* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

वर्ष ६२ संख्या ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१४, जून १९८८ ई०

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.५० रु०
विदेशमें २० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ३८.००रु०
विदेशमें ६ पौंड
अथवा ९ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
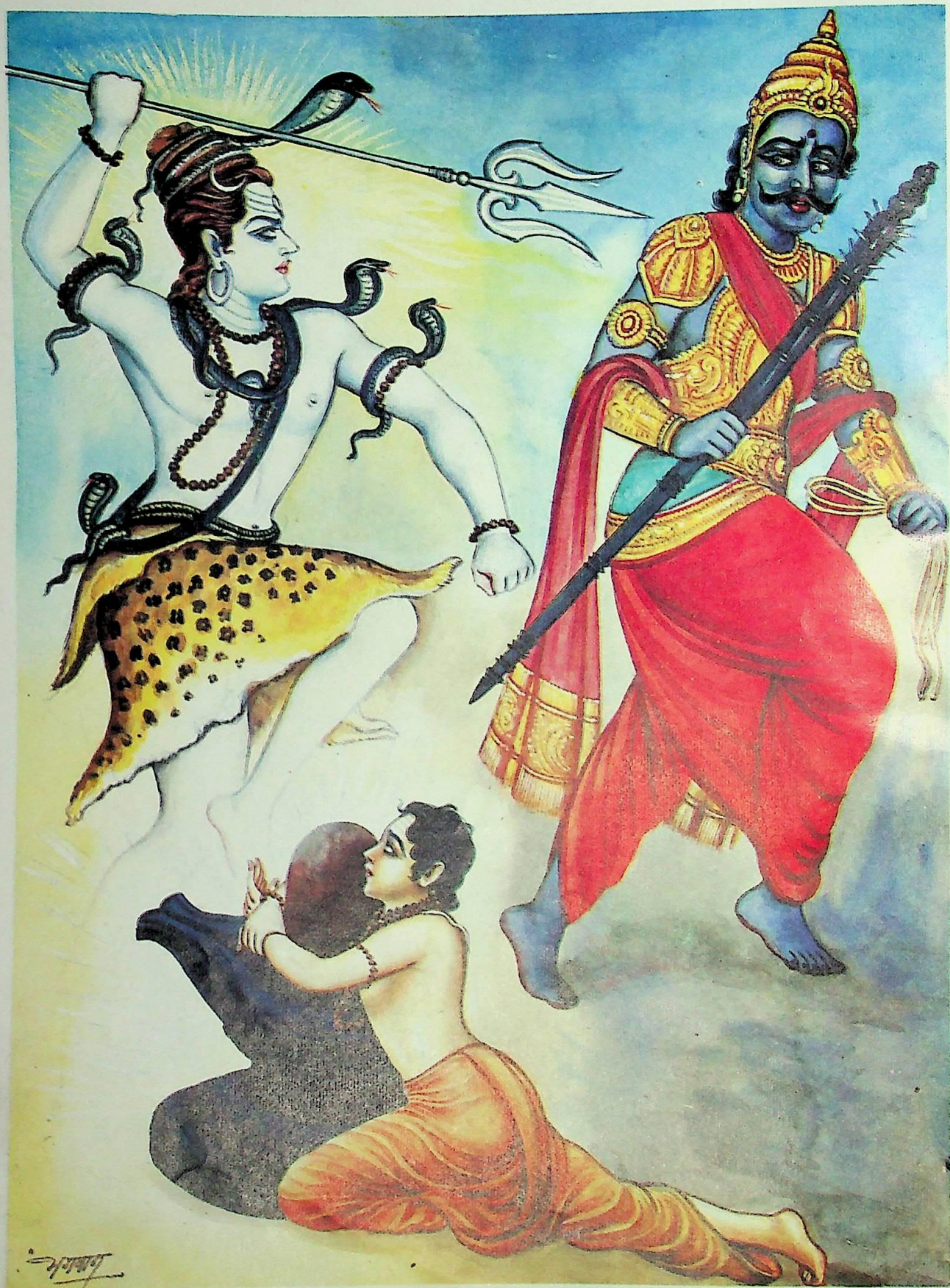
भगवान् शिवद्वारा कालसे मार्कण्डेयकी रक्षा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु॥

वर्ष ६२ गोरखपुर, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१४, जून १९८८ ई० संख्या ६ पूर्ण संख्या ७३९

शिवजीद्वारा कालसे मार्कण्डेयकी रक्षा

लिङ्गादथ समुत्तस्थौ मूर्तिमान् परमेश्वरः।
अनिर्देश्यवयोरूपश्चन्द्रार्धकृतशेखरः॥
गर्जन् मेघ इवोदग्रं हुंकृतेन स तत्क्षणात्।
उद्धृत्य पादकमलं प्रजहार भुजान्तरे॥

(पद्मपुराण, उ० खं० २३६।७२-७३)

'तदनन्तर परमेश्वर भगवान् शंकर सहसा उस लिङ्गसे मूर्तरूपमें प्रकट हो गये। उस समय उनकी अवस्था और रूप अनिर्वचनीय थे तथा उनका मस्तक अर्धचन्द्रसे सुशोभित था। वे तत्काल हुंकारपूर्वक मेघ-सदृश प्रचण्ड गर्जना करते हुए अपना चरण-कमल उठाकर कालकी छातीपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो गये। (इस प्रकार उन्होंने भक्तकी रक्षा की।)'

याद रखो—राग और द्वेष मनुष्यके बहुत बड़े शत्रु हैं, जो प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें स्थित रहकर तुम्हारे जीवनसंगी बने तुम्हारे परम अर्थको निरन्तर लूट रहे हैं। राग-द्वेषसे ही काम-क्रोधकी उत्पत्ति होती है, जो समस्त पापोंके मूल हैं।

जिसके मनमें भोगकामना है, वह कभी सच्चे अर्थमें सुखी नहीं हो सकता,। कामनाकी पूर्तिमें एक बार सुखकी लहर-सी आती है, पर कामना ऐसी अग्नि है, जो प्रत्येक अनुकूल भोगको आहुति बनाकर अपना कलेवर बढ़ाती रहती है। जितनी-जितनी कामनाकी पूर्ति होती है, उतनी-उतनी कामना अधिक बढ़ती है। कामना अभावकी स्थितिका अनुभव कराती है और जहाँ अभाव है, वहीं प्रतिकूलता है एवं प्रतिकूलता ही दुःख है। अतएव कामना कभी पूर्ण होती ही नहीं, इसलिये मनुष्य कभी दुःखसे मुक्त हो ही नहीं सकता। कामना बड़े-से-बड़े समृद्धिमान् वैभवशाली पुरुषको भी दीन बना देती है। कामना बड़े-से-बड़े विचारक तथा बुद्धिमान् पुरुषके मनमें भी अशान्तिका तूफान खड़ा कर देती है। कामनाकी अपूर्तिमें क्षोभ तथा क्रोध होता है, जो मनुष्यको विवेकशून्य बनाकर उसे सर्वनाशके पथपर तेजीसे आगे बढ़ाता है। इसलिये इन काम-क्रोधके मूल राग-द्वेषका त्याग करो।

यदि राग-द्वेषका त्याग न हो तो उनके विषयोंको तो अवश्य बदल डालो। राग करो श्रीभगवान्में, उनके स्वरूप-गुण-लीलामें, उनके नाममें और उनमें आत्म-समर्पित उनके भक्तोंमें तथा द्वेष करो अपने दुर्गुणोंमें, दुर्विचारोंमें, बुरे कामोंमें, पापोंमें, अन्तःकरणकी बुरी वृत्तियोंमें, भोगासक्तिमें और विषय-सुखकी कामनामें। बस, फिर ये राग-द्वेष ही तुम्हारे परम अर्थके—आध्यात्मिक सम्पत्तिके रक्षक और पोषक बन जायँगे। अग्निसे घरमें आग लगकर सब कुछ भस्म हो जाता है और अग्निसे ही यज्ञ-कर्म सम्पन्न होनेपर सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

भगवान्में राग होनेपर भगवद्विरोधी अपने तन-मनके कार्योंमें द्वेष होगा ही। जिनमें द्वेष होता है, वे बुरे लगते हैं और मनुष्य उनका विनाश चाहता है। अतएव भगवान्में उत्पन्न राग स्वभावतः ही शरीर तथा मनसे होनेवाले दुष्कर्म तथा दुष्ट विचारोंका नाश कर देता है। भगवान्में राग ही परम दुर्लभ भगवत्प्रेम है और पापमें द्वेष ही सच्चा वैराग्ययुक्त परम साधन है।

याद रखो—भगवान्में तुम्हारा राग बढ़े, इसके लिये भगवान्के स्वरूप, गुण, चरित्र, लीला आदिका बार-बार श्रवण करो, कीर्तन करो, चिन्तन करो, मनन करो और इसमें गौरव, आनन्द तथा शान्तिका अनुभव करो। भगवान्के अतुलनीय सुन्दर मधुर परम पावन नाम, रूप, भगवान्के अप्रतिम अनन्त ऐश्वर्य-गुण, भगवान्के चिदानन्दमय अनुपम सौन्दर्य-माधुर्य, भगवान्के सर्वविलक्षण तत्त्वस्वरूप आदिके श्रवण-कीर्तन-मननसे जितना ही मन उनकी ओर आकृष्ट होगा, जितनी ही उनमें रुचि बढ़ेगी, उतना ही उनमें राग बढ़ेगा, उतनी ही उनमें प्रीति बढ़ेगी, उतनी ही उत्तरोत्तर उनके प्रति आत्मसमर्पणकी अधिकाधिक लालसा बढ़ेगी।

भगवान्में पूर्ण आत्मसमर्पणकी लालसाका उदय बहुत ऊँची साधनाका फल है, स्वयं परम तथा चरम साधन है, जो भगवत्प्रेमरूप सुदुर्लभ वस्तु प्रदान कराकर भगवान्का अभिन्नस्वरूप निजजन बना देता है।

पूर्ण आत्मसमर्पणकी लालसा जाग्रत् होनेपर उसमें बड़ी-से-बड़ी भोगकामना तो रहती ही नहीं, मोक्षकामना भी छिप जाती है। एकमात्र भगवान्के परम पावन सुरेन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दित चरणकमलोंकी शरण ही उसकी सारी कामना, वासना, इच्छा, अपेक्षा, स्पृहा, लालसा आदिका विषय हो जाती है।—**'शिव'**

मनोबोध—२०

(समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी)

स्फुरे वीषयीं कल्पना ते अविद्या।
स्फुरे ब्रह्म रे जाण माया सुविद्या॥
मुळीं कल्पना दों रुपें तेचि जाली।
विवेकें तरी स्वस्वरूपीं मिळाली॥ १७२॥

जिस क्षण विषय-चिन्तनकी कल्पनाका स्फुरण मनमें हो, वह अविद्या है। जिससे ब्रह्मका स्फुरण हो, उसे सद्विद्या माया जानो। **'अहमस्मि'**की यह एक कल्पना ही **'अहमज्ञः, अहं ज्ञाता, अहं ब्रह्म, अहं जीवः'** इत्यादि वाक्योंमें 'मैं मूढ़—अज्ञानी हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं जीव हूँ—इन कल्पनाओंमें दो रूपोंमें दीखती है, परंतु सारासारका विवेक करते ही यह कल्पना-स्वरूपमें अकल्पनीय—कल्पनातीत ब्रह्ममें—आत्मतत्त्वमें विलीन हो जाती है।

स्वरूपीं उदेला अहंकारराहो।
तेणें सर्व आच्छादिलें व्योम पाहो॥
दिशा पाहतां ते निशा वाढताहे।
विवेकें विचारें विवंचूनि पाहें॥ १७३॥

स्वरूपमें अहंकारका उदय हुआ। उसने सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त किया। दिशाओंको देखते अन्धकार बढ़ता ही जाता है। विवेक (विचारपूर्वक सत्यासत्यका विवेक) करके देखना चाहिये।

[स्वरूपमें अहंकारका उदय हुआ। जगत्की उत्पत्तिसे पहले परब्रह्म अकेला था। उसने अपनी योगमायासे अहंकार धारण किया। वह सत्त्व, रज, तम—इन गुणोंके कारण सगुण हो गया। अब उसे अहंकार हुआ। **'एकोऽहं बहु स्याम्। एकाकी न रमते'** 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, अकेले अच्छा नहीं लगता।' अतः वह दृश्य जगत्की उत्पत्ति और समस्त जीव-जगत्के रूपमें स्वयं व्यक्त होकर सगुणसे अब साकार हो गया। अब इस जीव-दशाको प्राप्त करनेपर जीवमें उसकी जीव-दशाके कारण अज्ञानयुक्त अहंकार हुआ। ईश्वरीय मायाने जीवको उसके ब्रह्मतत्त्वका स्मरण रहने नहीं दिया। वह अहंकारके कारण अपनेको कर्मोंका कर्ता और भोक्ता समझने लगा। इस मायाका विस्तार कहाँतक फैला है, यह देखनेके लिये दिशाओंकी ओर देखा तो दृष्टि उठाते ही जैसे दिशाओंका अन्त नहीं, उसी प्रकार ईश्वरीय मायाका भी अन्त नहीं है। यह देख उसके अन्तःकरणमें अज्ञानकी निशाका अन्धकार बढ़ता जाता है। इसी अन्धकारके कारण उसे सारा आकाश भरा हुआ दिखायी देता है; अतः विचक्षणा करते हुए सारासार-विवेक करके विचार करना चाहिये।]

जया चक्षुनें लक्षितां लक्षवेना।
भवा भक्षितां रक्षितां रक्षवेना॥
क्षयातीत तो अक्षयी मोक्ष देतो।
दयादक्ष तो साक्षिनें पक्ष घेतो॥ १७४॥

जिसे चक्षुरिन्द्रियसे देखनेपर भी नहीं दीखता, किंतु भव जो कुछ दृश्यजात है, उसे खाते हुए देखनेपर भी दृश्यको नष्ट होनेसे उसके हाथोंसे कोई बचा नहीं सकता। वह अवश्य ही उद्भूत वस्तुओंको नष्ट कर देता है। जो क्षयातीत है, शाश्वत है, अविनाशी है, वही अक्षय मोक्षका दाता है। जो दया-दक्ष है, वह साक्ष्य देकर पक्ष लेता है।

[जो छिपा हुआ है, अव्यक्त है, उसे नेत्रसे देखनेपर नहीं दीखता। समस्त जीवमात्र-वनस्पति आदि सभीका उद्भव होनेपर नाश होना प्रत्यक्ष दीखता है, परंतु जो इन सबको नष्ट करता है और खाता है, उस मृत्युके हाथसे कोई भी किसी भूतमात्रको बचा नहीं सकता। मृत्यु चल-अचल सभी प्रकारकी सजीव-निर्जीव वस्तुओंको अवश्य ही नष्ट करती है। यही सब वस्तुजातका क्षय है। जो अक्षय, क्षयातीत, शाश्वत और अविनाशी है ऐसा परब्रह्म परमात्मा अक्षय मोक्षका दाता है। वह अत्यन्त दयादक्ष, उदार तथा दयालु है, अतः अन्तःकरणमें सदैव साक्षीरूपमें विद्यमान रहकर, जीवात्माको अपने दिव्य अस्तित्वका साक्षात्कार देखकर दुःखी होनेसे बचा लेता है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनका पक्ष लिया और युद्धमें उनका संरक्षण करते हुए विजयश्री प्राप्त करायी, उसी प्रकार परम आत्मतत्त्व श्रीराम जीवका पक्षधर होकर विकारोंपर, शोक-मोह आदि छः शत्रुओंपर उनसे बचाते

हुए विजयश्री प्राप्त करा देते हैं और आत्मस्वरूपका साक्षात् अनुभव देकर कृतकृत्य करते हैं, जिससे जीव आत्मस्वरूपमें विलीन होकर कृतार्थ हो जाता है।]

विधी निर्मितां लीहितो सर्व भाळीं।
परी लीहितो कोण त्याचे कपाळीं॥
हरू जाळितो लोक संहारकाळीं।
परी शेवटीं शंकरा कोण जाळी॥ १७५॥

विधि—ब्रह्मा सबका निर्माण करके ललाटपर सबका भविष्य लिखते हैं। उनके (ब्रह्माके) कपालपर भविष्य लिखनेवाला कौन है? श्रीशंकर सम्पूर्ण विश्वको संहार-कालमें भस्म करते हैं, पर अन्तमें हरको—महादेवको कौन भस्मसात् करता है?

[ब्रह्माजीका कार्य जगत्‌की उत्पत्ति करना है, भविष्यको लिखना है। पालन करनेवाले श्रीविष्णु हैं और संहार करनेका कार्य श्रीमहादेवजीका है, परंतु इनका भविष्य लिखनेवाला, पालन करनेवाला और संहार करनेवाला कौन है? ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी क्षर ही हैं, नष्ट होनेवाले हैं, उनका कार्य समाप्त होनेपर वे भी कालकवलित हो जाते हैं। इन तीनोंका कार्य जिसके आधारपर और आज्ञासे चलता है, उस आत्मतत्त्व परब्रह्म श्रीरामको जानना चाहिये।]

[आदित्य १२ हैं—१—धाता, २—मित्र, ३—अर्यमा, ४—शक्र, ५—वरुण, ६—अंश, ७—भग, ८—विवस्वान्, ९—पूषा, १०—सविता, ११—त्वष्टा, १२—विष्णु।

रुद्र ११ हैं —१—रैवत, २—अज, ३—भव, ४—भीम, ५—वाम, ६—उग्र ७—वृषाकपि, ८—अजैकपाद, ९—अहिर्बुध्न्य, १०—बहुरूप, ११—महान्।

उपर्युक्त विषय श्रीसद्‌गुरु समर्थ रामदास आगे आनेवाले १७६वें श्लोकमें समझाते हैं।]

जगीं द्वादशादित्य ते रुद्र अक्रा।
असंख्यात संख्या करी कोण शक्रा॥
जगीं देव धुंडाळितां आढळेना।
जनीं मुख्य तो कोण कैसा कळेना॥ १७६॥

जगत्‌में १२ आदित्य और ११ रुद्र हैं, ऐसे ही असंख्य ब्रह्माण्डोंमें असंख्य आदित्य एवं रुद्र हैं। इन्द्रोंकी संख्या भी वैसी ही है। उन सबकी गणना कौन कर सकता है? जगमें देवोंको खोजने जायँ तो कभी नहीं मिलते। मुख्य देवाधिदेव परमात्म-तत्त्व परमात्मा कौन है? उसका स्वरूप कैसा है? कुछ भी समझमें नहीं आता।

तुटेना फुटेना कदा देवराणा।
चळेना ढळेना कदा दैन्यवाणा॥
कळेना कळेना कदा लोचनासी।
वसेना दिसेना जनीं मीपणासी॥ १७७॥

ईश्वर कभी टूटता-फूटता नहीं, न वह अपने स्थानसे चलित होता है, न दीनतासे स्थानभ्रष्ट होता है। वह भी नेत्रोंसे दीख नहीं सकता, न अहं-भावनासे देखनेपर हृदयमें वास करता और न दर्शन ही देता है। आत्मदर्शनके लिये 'मैंपन'की भावनाका पूर्णतः नाश होना आवश्यक है।

जया मानला देव तो पूजिताहे।
परी देव शोधूनि कोणी न पाहे॥
जगीं पाहतां देव कोट्यानुकोटी।
जया मानली भक्ति जे तेचि मोठी॥ १७८॥

जो जिस देवताको मानता है, वह उसकी अर्चना करता है। यों तो कोटि-कोटि देवता हैं, परंतु जो सत्य मुख्य देवता देवाधिदेव हैं, उन्हें कोई खोजकर नहीं देखता। प्रमुख देवताकी खोज न करते हुए ही जिसने जिस देवको माना, उसने उसी देवताकी भक्तिको श्रेष्ठ माना और दूसरोंकी देवता-भक्तिको गौण। (क्रमशः)

[अनु॰—कु॰ रोहिणी गोखले]

तुम अपनी सांसारिक इच्छाओंकी कैदमें बंद हो। उससे छूटनेके लिये यदि सब प्रकारसे अपने आपको प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर दोगे तो तुम्हारी रक्षा होगी और तुम्हें सच्चा सुख मिलेगा।

आत्मोन्नतिमें सहायक बातें

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंके सुधारकी अपेक्षा मनके सुधारपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि मनके भाव ही क्रियारूपमें परिणत होते हैं, अतः मनके सुधारसे शरीर और इन्द्रियोंका सुधार स्वतः ही हो जाता है। यदि शरीर और इन्द्रियोंके साथ मन नहीं है तो उनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है। शरीर और इन्द्रियोंके बिना भी मन क्रिया करता रहता है। उसका एक क्षण भी क्रियारहित रहना कठिन है। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३।५)

'निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।'

श्रीभगवान्‌के ये वचन प्रधानतया मनकी क्रियाको लक्ष्य रखकर ही हैं, क्योंकि शरीर और इन्द्रियोंकी क्रिया निरन्तर चालू नहीं देखी जाती; अतः मनकी क्रियाओंके सुधारका विशेष प्रयत्न करना चाहिये। मनके द्वारा अनेक प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उन्हें हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, उपरति, सद्‌गुण और सदाचारविषयक मनन स्वाभाविक ही होना एवं प्रयत्नसे करना; भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदिका अथवा नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष ब्रह्मका अभेदरूपसे मनन और निदिध्यासन करना; संसारके भोगोंको दुःखरूप, क्षणभङ्गुर, नाशवान् समझना तथा अन्तःकरणमें क्षमा, दया, समता, शान्ति आदि उत्तम गुणोंका भाव होना एवं यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, संयम, परोपकार, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि उत्तम आचरणोंको निष्कामभावपूर्वक करने एवं दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, व्यर्थ चेष्टा और भोगोंके त्याग करनेकी इच्छा, स्फुरण और संकल्प होना—ये सब तो मनकी आत्म-कल्याणके लिये होनेवाली अध्यात्म (परमार्थ)-विषयकी क्रियाएँ हैं।

(२) स्वाद-शौक, ऐश-आराम, कञ्चन-कामिनी, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके विषयभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना—ये मनकी स्वार्थविषयकी क्रियाएँ हैं।

(३) मनमें किसी भी नगर, मकान, वन, पहाड़, नदी, तालाब, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो व्यर्थ स्फुरणाएँ होने लगती हैं, जिनसे अपना कोई सम्बन्ध या प्रयोजन नहीं है तथा जिनसे न परमार्थ सिद्ध होता है और न स्वार्थ ही एवं जिनमें न पुण्य है और न पाप—ये सब मनकी व्यर्थ स्फुरणाएँ हैं। प्रायः अधिकांश मनुष्योंके ऐसी ही स्फुरणाएँ हुआ करती हैं।

(४) काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, नास्तिकता आदि भावोंकी, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्म करनेकी तथा कर्तव्यकर्मोंको न करना-रूप प्रमाद आदिकी स्वतः ही इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना अथवा जान-बूझकर करना—ये सब मनकी पापमयी क्रियाएँ हैं।

इन चारोंमेंसे पहली परमार्थविषयकी क्रियाएँ सात्त्विकी, दूसरी स्वार्थविषयकी क्रियाएँ राजसी और तीसरी व्यर्थ क्रियाएँ तथा चौथी पापमयी क्रियाएँ तामसी हैं। इनमें सात्त्विकी क्रियाएँ तो बहुत ही कम होती हैं। अधिकांश राजसी-तामसी ही होती हैं। सात्त्विकी क्रियाओंमें भी श्रद्धा, भक्ति और वैराग्यपूर्वक नित्य-निरन्तर परमात्माका स्मरण-चिन्तन करना ही सर्वोपरि है। अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि मनसे राजसी और तामसी इच्छा, स्फुरणा और संकल्पोंका सर्वथा त्याग करके केवल अध्यात्मविषयकी सात्त्विकी उत्तमोत्तम क्रियाओंके लिये ही जी-तोड़ प्रयत्न करे।

× × ×

समय बहुत कम है। भगवान्पर निर्भर होकर जोरके साथ चलना चाहिये। लाख रुपया खर्च करनेपर भी एक मिनटका भी समय और नहीं मिल सकता। इसलिये सारा समय भगवान्की प्राप्तिके उपायमें ही लगाना चाहिये।

× × ×

समय बहुत कम रह गया है—ऐसा समझकर घबराये नहीं कि अब कल्याण कैसे होगा। अबसे लेकर मरणपर्यन्त जो भी समय है, उसमें भगवान्को नहीं भूलना चाहिये। भगवान्को सदा पकड़े रहना चाहिये। भगवान्को निरन्तर याद रखना ही उन्हें पकड़े रखना है। भगवान्को पकड़े रहोगे तो फिर तुम्हारे कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है। यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं, जो तुम्हें नरकमें ले जा सकें।

परमात्माने हमें बुद्धि-विवेक दिया है, उसे काममें लाना चाहिये। वही मनुष्य बुद्धिमान् है, जो अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताता और सारा समय अच्छे-से-अच्छे काममें लगाता है।

× × ×

चाहे कोई कैसा भी पापी-से-पापी क्यों न हो, उसका भी कल्याण हो सकता है। केवल शर्त यही है कि वह अबसे लेकर मृत्युपर्यन्त भगवान्को भूले ही नहीं। भगवान्को हर समय याद रखना ही सबसे बढ़कर उपाय है।

हमें यह मनुष्य-जन्म मिला है—आत्माके कल्याणके लिये, किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके कार्यको छोड़कर संसारके फंदेमें फँसा है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ?

× × ×

एकान्तमें बैठकर नित्य यह विचार करे कि ईश्वर क्या है ? मैं कौन हूँ ? मैं कहाँसे आया हूँ ? मैं क्या कर रहा हूँ ? मुझे क्या करना चाहिये ? इस प्रकार विचारकर दिन-पर-दिन अपनी उन्नतिमें अग्रसर होना चाहिये।

× × ×

मनुष्य-शरीर पाकर यदि परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई, उनका तत्त्वज्ञान नहीं हुआ तो यह जन्म ही व्यर्थ गया। मानव-जन्मका समय बहुत ही दामी है, उसे सोच-सोचकर बिताना चाहिये।

× × ×

भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें उत्तम-से-उत्तम साधन है—भगवान्को हर समय याद रखना। इसके समान और कोई साधन है ही नहीं। चाहे कोई उत्तम-से-उत्तम भी कर्म हो, पर वह भगवत्स्मृतिके समान नहीं है। चाहे भक्तिका मार्ग हो, चाहे ज्ञानका, चाहे योगका। सभी मार्गोंमें भगवान्की स्मृतिकी ही परम आवश्यकता है।

× × ×

भगवान्से मन हट जाय तो उस समय ऐसी तड़पन होनी चाहिये, जैसे कि जलके बिना मछली तड़पने लगती है।

× × ×

भगवान्के मिलनेमें देरी हो रही है। इसमें भगवान्की त्रुटि नहीं है, हमारी ही कमी है। भगवान्में अनन्य प्रेम होनेसे वे प्रकट हो जाते हैं। अतः प्रभुकी सदा वर्तमान अपार अनन्त दयाको समझकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये अथवा एकान्तमें बैठकर भगवान्की विरह-व्याकुलतामें छटपटाकर भगवान्से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

× × ×

भगवान्के नामका जप, रूपका स्मरण और गुणोंका मनन करनेसे, सत्सङ्ग करनेसे तथा गद्गद होकर करुणाभावसे भगवान्से स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्में प्रेम हो सकता है।

× × ×

संसाररूपी सागरमें भगवान्के चरण ही सुदृढ़ नौका हैं। उस नौकाको मजबूतीसे पकड़ लेना चाहिये। भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको सर्वतोभावेन समर्पण कर देना ही मजबूतीसे चरणरूपी नौकाको पकड़ना है।

× × ×

यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान् हैं, मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं और मुझे भी मिल सकते हैं।

× × ×

श्रद्धा करने योग्य चार पदार्थ हैं—१—भगवान्, २—महात्मा, ३—शास्त्र, ४—परलोक; किंतु अनन्य प्रेम

करने योग्य एक भगवान् ही हैं।

× × ×

जप, ध्यान, पूजा तो परमेश्वरकी ही करनी चाहिये तथा आज्ञापालन, भावोंके अनुकूल बनना और आचरणोंका अनुकरण करना—ये तीनों महात्माओंके भी किये जा सकते हैं।

× × ×

महात्माके दर्शनसे ऐसा आनन्द होना चाहिये, जैसे कि परमेश्वरके दर्शनसे हो। महात्माकी आज्ञाका पालन करनेमें ऐसा उत्साह होना चाहिये जैसा कि परमेश्वरकी आज्ञाके पालनमें हो।

× × ×

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबके साथ निःस्वार्थ प्रेम करे। स्वार्थ छोड़कर प्रेम करनेवालेका दर्जा भगवान्‌के बराबर है; क्योंकि हेतुरहित प्रेम करनेवाले या तो भगवान् हैं या उनका कोई प्रेमी भक्त।

× × ×

स्वार्थ छोड़कर दूसरेका हित करनेसे आत्मा शुद्ध हो जाता है।

× × ×

कामदोषसे जो बच जाता है, उसे मैं शूरवीर समझता हूँ। कामदोषसे तंग होकर ही सूरदासजीने अपनी आँखें फोड़ ली थीं। इसलिये पुरुषको स्त्रियोंकी ओर देखना ही नहीं चाहिये। किसी समय आदतके कारण दीख जाय तो उसे पाप समझकर उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और आगेके लिये दृष्टि न जाय—इसकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये एवं उस स्त्रीको माता-बहिनके समान समझना चाहिये।

× × ×

बहुत-से भाई अपनेको भक्त मानते हैं; किंतु जबतक भगवान्‌की मुहर (छाप) नहीं लग जाती, तबतक कोई भी भक्त नहीं हो सकता। भगवान्‌की मुहर क्या है? भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक जो भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं, वही भगवान्‌की मुहर है।

× × ×

जैसे हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सारा संसार हरे रंगका दीखने लग जाता है वैसे ही बुद्धिपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये। बुद्धिके ऊपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेनेपर सारा संसार श्रीहरिके रूपमें ही दिखायी देने लगता है।

× × ×

जहाँ अपना मन जाय, जहाँ अपनी दृष्टि जाय, वहाँ भगवान्‌के स्वरूपका भाव करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ वस्तुमात्र है, वह भगवान्‌का रूप है और जो कुछ चेष्टामात्र (हलचल) है, वह भगवान्‌की लीला है अर्थात् एक भगवान् ही अनेक रूप धारण करके भाँति-भाँतिकी लीला कर रहे हैं। ऐसा समझकर हर समय भगवान्‌की स्मृतिमें मस्त रहे।

× × ×

एक बात बड़े महत्त्वकी है। संसारका व्यर्थ चिन्तन सर्वथा हटा देना चाहिये। जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे भगवान्‌में लगाना चाहिये। एक भगवान्‌के सिवा किसीका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। एक भगवान्-ही-भगवान् हैं—ऐसी वृत्ति बनानी चाहिये।

× × ×

आप एकान्तमें बैठकर जप-ध्यान-साधन करते हैं—उसमें आपका मन नहीं लगता, इसका कारण है आपकी बुरी आदत। आपको चाहिये कि जहाँ-जहाँ मन जाय, वहींसे बलपूर्वक उसे हटाकर परमात्मामें लगावें। इस प्रकारकी साधारण चालसे जो सैकड़ों वर्षोंमें लाभ होता है, वह उक्त प्रकारसे जी-तोड़ परिश्रम करनेपर बहुत थोड़े समयमें ही हो सकता है।

अभ्यासके साथ वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है। वैराग्य होनेसे ही मन वशमें हो सकता है। वैराग्य होता है—वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करनेसे। जैसे चोरका सङ्ग करनेसे चोरीके और व्यभिचारीके सङ्गसे व्यभिचारके भाव आते हैं, उसी प्रकार विरक्त पुरुषोंका सङ्ग करनेसे वैराग्य अपने आप होने लगता है।

× × ×

वैराग्यमें ही आनन्द है, वैराग्यके सामने त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ है। वैराग्यसे भी अधिक आनन्द है

उपरतिमें और उपरतिसे भी अधिक आनन्द है परमात्माके ध्यानमें। संसारमें प्रीति न होना वैराग्य है और संसारकी ओर वृत्ति ही न आना उपरति है।

× × ×

भगवान्‌के भजन-ध्यानमें मन न लगे, तब भी हठपूर्वक भजन-ध्यान करते रहना चाहिये। आगे जाकर आप ही मन लग सकता है।

× × ×

भगवान्‌से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि प्रभो! आप अपना नित्य सुख थोड़ा-सा भी दे दीजिये, किंतु संसारका यह लम्बा-चौड़ा सुख भी किसी कामका नहीं।

× × ×

मनुष्यको अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे भगवान्‌का भजन-ध्यान करना चाहिये। जो मनुष्य भगवान्‌का भजन-ध्यान करता है, उसे स्वयं भगवान् मदद देते हैं। इसलिये निराश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत यह विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ है, अतः हमारी विजयमें कोई शङ्का नहीं। ईश्वर और महात्माकी कृपाके बलपर ऐसा कोई भी काम नहीं, जो हम न कर सकें। हमें बड़ा अच्छा अवसर मिला है। इसे पाकर अपना काम बना ही लेना चाहिये, निराश नहीं होना चाहिये।

× × ×

संसारमें लोग अपनी निन्दा करें, अपमान करें, तो उससे अपनेको प्रसन्न होना चाहिये और यदि लोग अपनी प्रशंसा करें, सम्मान करें, तो उससे लज्जित होना चाहिये।

× × ×

कुसङ्ग कभी न करे। मनुष्य सत्सङ्गसे तर जाता है और कुसङ्गसे डूबता है।

× × ×

सत्सङ्गमें सुनी हुई बातोंको एकान्तमें बैठकर मनन करे और उन्हें काममें लानेकी पूरी चेष्टा करे।

× × ×

पाप, भोग, आलस्य और प्रमाद—ये चार नरकमें ले जानेवाले हैं। इनका सर्वथा त्याग करे।

× × ×

यह निश्चय कर ले कि प्राण भले ही चले जायँ, पर पाप तो कभी करना ही नहीं है। भारी-से-भारी आपत्ति आ जाय, तब भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये और सदा ईश्वरको याद रखना चाहिये।

× × ×

मनुष्य जो चिन्ता, भय, शोकसे व्याकुल होता है, इसमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। सिवा मूर्खताके इनके होनेका कोई अन्य कारण नहीं। मनुष्य थोड़ा-सा विचार करके इस मूर्खताको हटा दे तो ये सरलतासे मिट सकते हैं।

× × ×

संसारके विषयोंको विषके समान समझकर इनका त्याग करना चाहिये; क्योंकि विषसे तो मनुष्य एक जन्ममें ही मरता है, किंतु विषयोंके सुखोपभोगसे तो मरनेका ताँता ही लग जाता है।

× × ×

प्रत्येक काममें स्वार्थ, आराम और अहंकारको दूर रखकर व्यवहार करना चाहिये, फिर आपका व्यवहार उच्चकोटिका हो सकता है।

× × ×

किसी व्यक्तिने अपनी सेवा स्वीकार कर ली तो उनकी अपनेपर बड़ी दया माननी चाहिये।

× × ×

किसी कार्यमें मान-बड़ाई हो तो वहाँ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा दूसरोंको देनी चाहिये तथा स्वयं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठासे हट जाना चाहिये।

असली बात तो यह है कि एक मिनट भी जो भगवान्‌को भूलना है, यह बड़ी भारी खतरेकी वस्तु है; क्योंकि जिस क्षण भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है, उस क्षण यदि हमारे प्राण चले जायँ तो हमारे लिये बहुत खतरा है, इसलिये बचे हुए जीवनका एक भी क्षण भगवान्‌की स्मृतिके बिना नहीं जाना चाहिये। यदि आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए प्राण निकल गये तो क्या उपाय है, तो इसके लिये आप चिन्ता न करें। जब आपके जाग्रत्-अवस्थामें १८ घंटे निरन्तर भजन होने लगेगा तो उसके बलसे रात्रिमें सोते हुए स्वप्नमें भी आपके प्रायः भजन ही होना सम्भव है।

बन्ध-मोक्षका कारण

(पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

महर्षि वसिष्ठने मिथ्यापुरुषका दृष्टान्त देकर अहंकारका उन्मूलन बतलाया है । जैसे किसी आकाशमें एक मिथ्या कल्पनामय पुरुष उत्पन्न हुआ और उसने आकाशकी रक्षाके लिये गृह, कूप, कुण्ड, कुम्भ आदि बनाये, परंतु सब-के-सब नष्ट होते गये, उसी तरह सूक्ष्म चिदाकाशमें 'अहं' नामका मिथ्यापुरुष उत्पन्न हुआ । वह भी उस चिदाकाशकी रक्षाके लिये नानाविध देहोंद्वारा उसे सीमित करके सुरक्षित रखना चाहता है, परंतु विनश्वर देहोंके नाशसे तत्स्थ चिदाकाशका नाश समझकर रोता है और पुनः देहान्तर रचता है । अहंकार, चित्त, बुद्धि, मन, माया, प्रकृति, संकल्प, कल्पना, काल, कला—सब उसी मिथ्यापुरुषके नाम हैं । वह स्वयं मिथ्या है । मिथ्या कल्पनाद्वारा मिथ्याभिमानसे वह स्वयं दुःखी होता है । आत्मा तो आकाशसे भी सूक्ष्म और विस्तीर्ण है । उसका किसी सीमामें आना सम्भव नहीं । उसका नाश और रक्षा भी किसीके वशकी बात नहीं है—

इयं तु सर्वदृश्याढ्या राजन् सर्गपरम्परा ।
तस्मिन्नेव महादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता ॥

जल जैसे तरङ्गताको प्राप्त होता है, वैसे ही संकल्पोन्मुख होकर चिन्मात्र संवित् ही जीवत्वको प्राप्त होता है ।

पथिकाः पथि दृश्यन्ते रागद्वेषविमुक्तया ।
यथा धिया तथैवैते द्रष्टव्याः स्वेन्द्रियादयः ॥
एतेषु नादरः कार्यः सता नैवावधीरणम् ।
पदार्थमात्रमाविष्टास्तिष्ठन्त्वेते यथासुखम् ॥
पदार्थमात्रदेहादि धिया संत्यज्य दूरतः ।
आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्ममयो भव ॥

देह, इन्द्रिय, मन आदि सभी दृश्य अनात्मा, जड तथा मिथ्या हैं । आत्मा सर्वथा असङ्ग है, इनसे अलिप्त है । अतः बुद्धिसे ही इन सबका त्याग करके विशुद्ध आत्मामें प्रतिष्ठित होना ही पुरुषार्थ है । 'मैं देहादि सङ्घातमय हूँ'—यह बुद्धि अनर्थकारिणी है तथा 'मैं चिन्मात्र, सन्मात्र, व्यापक, सर्वस्वरूप आत्मा हूँ'—यह बुद्धि कल्याणकारिणी है ।

कुचकोटरसंसुप्तं विस्मृत्य जननी सुतम् ।
यथा रोदिति पुत्रार्थं तथाऽऽत्मार्थमयं जनः ॥
अजरामरमात्मानमबुद्ध्वा परिरोदिति ।
हा हतोऽहमनाथोऽहं नष्टोऽस्मीति वपुर्व्यये ॥

अर्थात् जैसे छातीपर सोये हुए पुत्रको भूलकर माता पुत्रके लिये रोती है, वैसे ही अजर, अमर आत्माको न जानकर देहका नाश उपस्थित होनेपर 'मैं नष्ट हुआ, अनाथ हो गया' आदि रूपसे प्राणी रोता है । वस्तुतः चिद्ब्रह्म ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु कभी हुई ही नहीं । सब कुछ चिदादर्शमय है, इस भावनासे प्राणी शान्त रहता है । सर्वशून्य, निरालम्ब, निर्विषय चित्त ही सब कुछ है, यह भावना ही तापहारिणी है—

चिदादर्शमयं सर्वं जगदित्येव भावयेत् ।
सर्वं शून्यं निरालम्बं चिद्रूपमिति भावयेत् ॥

तृण, गुल्म, नर, नाग, आकाश, वायु, सूर्य, पृथ्वी सम्पूर्ण प्रपञ्चमें एकमात्र स्वप्रकाश संवित्स्वरूप सत्ता ही सार है । सरित्, सरोवर, समुद्रमें स्वच्छ जलके समान ही सर्वत्र स्वच्छ सत्तामात्र आत्मा ही भरपूर है । जैसे स्वप्नके घटादि अपनी उत्पत्तिमें मृत्तिका, दण्ड, चक्रादिकी अपेक्षा नहीं करते, किंतु अज्ञान, निद्रादि उनकी सामग्री कुछ और ही है, वैसे ही वस्तुतः सर्ग वास्तविक कारणरहित मायामय अनिर्वचनीय है । जैसे जल-तरङ्गादिमें सूर्यका प्रतिबिम्ब होनेपर उपाधिगत हलचल प्रतिबिम्बमें प्रतीत होती है, वैसे ही अविद्या अन्तःकरणादि उपाधिमें चित्प्रतिबिम्बरूप जीवमें भी उपाधिगत कर्म प्रतीत होते हैं । वे उपाधिगत कर्म ही उन जीवोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं । संकल्पोंसे ही कर्म और बन्ध आदि होते हैं, निःसंकल्पता मोक्षका कारण है ।

साधकको चेतावनी

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ० ६२८ से आगे]

महाभारतमें श्रीकृष्णने अर्जुनको बताया कि किसीको आत्महत्या करनी हो तो अपने मुखसे अपनी बड़ाई करे, इसीसे उसकी आत्महत्या हो गयी। बड़ोंकी हत्या करनी हो तो उनकी निन्दा करे तो उनकी हत्या हो गयी। अपने मुखसे जैसे अपनी प्रशंसा करना आत्महत्या है, उसी प्रकार प्रशंसा सुनना भी आत्महत्या है और प्रशंसा करवानेमें निमित्त बनना भी आत्महत्या है। कई बार किसी साधक या महात्माके प्रेमी या भक्त उनकी जानकारी तथा रुचिके बिना भी उनकी प्रशंसा करते हैं तथा उनके विषयमें प्रचार-सामग्री भी प्रकाशित कर देते हैं, पर यह अच्छा नहीं है। अनुयायी, बस निरपेक्ष रहें और यदि करना हो तो वे जैसा चाहते हैं वैसा ही करें। कबीरके आचरणपर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने एक काव्य लिखा है। जन-संत कबीरके व्यक्तित्वकी प्रशंसा अत्यधिक फैल गयी और उनके पास आनेवाले लोगोंकी भीड़ लग गयी, तब उनका साधन रुक गया। जिसके कारण कबीरने स्वयं भगवान्‌से प्रार्थना करके इस प्रकारकी व्यवस्था करवायी, जिससे उनकी निन्दा हो। परिणामस्वरूप निन्दा होनेके कारण लोगोंने आना बंद कर दिया। सचमुच जब निन्दा होने लगती है, तब धीरे-धीरे लोग खिसकने लगते हैं। केवल दो-एक अन्तरङ्ग प्रेमी ही होंगे जो संसारमें निन्दाके पात्रके साथ रहकर भी प्रेम निभाते हैं। जहाँतक जीवनमें प्रशंसा तथा सफलता मिलती है, वहाँतक तो भक्त या प्रेमी बहुत मिलेंगे। जो जानते हैं कि इनके पास बैठनेसे हमारी प्रशंसा होगी तथा कहते भी हैं कि उनके हमारे घरमें आ जानेसे हमारा घर पवित्र हो जायगा, लोगोंमें हमारा मान बढ़ जायगा, परंतु कहीं उनका या महात्माका मान घटने लगे, तो लोग कतराने लगते हैं। मनुष्य स्वभावसे प्रशंसामें हिस्सा लेना चाहता है। बदनामीमें बेटा भी अलग हो जाता है। वह कह देता है कि हम तो जानते ही थे कि पिताजी तो बिगड़े हुए हैं ही। उसी प्रकार बेटेके लिये बाप कह देता है कि यह तो हमारे कुलमें कलंक निकला, मर जाता तो अच्छा था।

वास्तवमें कोई भी असफलतामें साथ नहीं देता। प्रेमकी बात अलग है। प्रेममें गुण नहीं देखा जाता। **'गुणरहितं कामनारहितम्'**—प्रेमका स्वरूप है। वहाँ तो चाहे कितनी ही निन्दा हो, नरकोंमें भी जाना पड़े, परंतु प्रेमी प्रेमास्पदका साथ उसी प्रकार नहीं छोड़ता, जैसे जीवात्मा शरीरको। अतः साधकको चाहिये कि वह सदा अपने-आपको पूजासे, प्रशंसासे बचाता रहे। यह बड़ी मीठी छुरी है।

साधकके मित्रोंको भी चाहिये कि वे उसका पतन करानेवाला काम न करें। किसी साधकने व्रत किया है और उसके भक्त लोग जरा-सा रस लेनेका आग्रह करते हैं। यदि साधकने उनका मन रखने या इच्छा पूरी करने-हेतु उसे ले लिया तो व्रत तो टूट ही गया। मोहवश माता बच्चेको कुपथ्य देती है। यद्यपि माँ यह नहीं चाहती कि बच्चा मर जाय या बीमार हो जाय, पर माताका जो मोह है, बेसमझी है, यह बच्चेको कुपथ्य दिला देती है। साधकको उसके मित्रगण, प्रेमीगण, भक्तगण मोहवश आराम देनेके लिये कहते हैं कि गद्दे या चटाईको आप तो समान ही समझते हैं। आपकी समदर्शितामें जब कोई अन्तर नहीं है तो गद्देपर सोनेमें क्या हानि है ? उनकी बात मानकर यदि गद्देपर सो गये और गद्दा मुलायम लगने लगा और मनमें गद्देकी चाह होने लगी तो पतन ही तो हुआ। यह विषयासक्ति जबतक मनमें बनी हुई है, इसे बढ़ते देर नहीं लगती। जरा-सी आगकी चिनगारी हवा लगी कि फैली और सारा घर भस्म हो गया। इसलिये साधनामें प्रवृत्त लोगोंके मित्रोंका यह काम होना चाहिये कि उसकी साधनामें विघ्न न आवे, इस प्रकार उसकी सहायता करें। वे ही उसके सच्चे मित्र हैं, सच्चे हितैषी हैं, सच्चे घरके हैं। अत्यन्त मधुरभाषी तुलसीदासजी भी उस विषयमें इतना कटु कह गये कि जैसे कोई शाप देता है, आग

लगाता है—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

कौन बाकी रहा—भगवान्‌की ओर जानेमें बाधक सभी जल जायँ, सबमें आग लग जाय।

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद एतो मतो हमारो॥

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदासजीने मीराको यही चिट्ठी लिखी थी। लिखी थी या न लिखी थी, परंतु यह सिद्धान्त बड़ा सच्चा है कि अपना वही है, मित्र वही है, प्रेमी वही है, सुहृद् वही है, सच्चे माता-पिताका पद उन्हींको प्राप्त होना चाहिये, सच्ची संतान वही है, जो अपने स्नेहीको, अपने सम्बन्धीको भगवान्‌में लगावे।

चैतन्य महाप्रभु संन्यासी होकर शान्तिपुरमें आये तो भक्तोंका बड़ा समूह इकट्ठा हो गया। भक्तलोग कहने लगे कि आप यहीं रहें। चैतन्य बड़े मातृभक्त थे, उन्होंने कह दिया कि जहाँ माँ कह देंगी, वहीं रह जायँगे। यह सुनकर भक्तोंको बड़ा आनन्द हुआ कि चैतन्य तो माँका इतना अधिक प्यारा तथा लाडला बेटा है कि माँ अवश्य कहेंगी कि हमारे ही पास रहो। भक्तलोग शची माँके पास गये और बोले कि 'माता अब तो काम हो गया; क्योंकि उन्होंने कहा है कि जहाँ माँ कहेंगी वहीं रहेंगे।' मैया सोचमें पड़ गयीं तथा विचार करके बोलीं कि 'अब चैतन्य निमाई नहीं है। अब यह मेरा बेटा नहीं है, अब तो यह संन्यासी है। अब तो इसके धर्मकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। मोहवश उसे घरमें रहनेको कहना मेरा धर्म नहीं, उसे संन्यास-धर्मसे च्युत कर देना यह मेरा कर्तव्य नहीं।' यह सुनते ही सब लोगोंके होश उड़ गये तथा कहने लगे कि 'फिर तो ये न जानें कहाँ चले जायँगे।' नवद्वीपसे अत्यन्त दूर वृन्दावन चले जायँगे। मैयाने कहा—'तो फिर वे वृन्दावन भी न रहें और यहाँ भी न रहें, उड़ीसामें नीलाचल जाकर जगन्नाथपुरीमें रहें, जिससे वे यहाँसे दूर भी हो जायँगे और अधिक दूर भी नहीं रहेंगे। तुमलोग जा सकोगे, देख सकोगे, मिल सकोगे।' उस समय वहाँ जानेमें तीन दिन लगते थे। साथियों, सम्बन्धियों, सुहृदों, माता-पिता और पुत्रका यह कर्तव्य है कि अपने सम्बन्धीको, स्नेहीको भगवान्‌में लगाये, उसे गिराये नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥

जहाँ भगवच्चरणारविन्दमें प्रेम नहीं, उस धर्म-कर्ममें आग लग जाय। वास्तवमें भगवत्प्रेमकी प्रधानता है। यद्यपि ज्ञानके लिये आग लगानेकी बात नहीं कही गयी है, पर उसपर भी तुलसीदासजीने बड़े जोरका आक्रमण किया है—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

जहाँ श्रीरामके प्रेमकी प्रधानता नहीं, वह ज्ञान अज्ञान है और वह योग कुयोग है। बस, भगवच्चरणारविन्दमें प्रेम हो, यही साधकका काम है। इसमें जितने भी विघ्न आनेवाले हैं, जिन-जिनसे आते हैं, उन सबका त्याग करना, उन्हें परित्याज्य समझना साधकका कर्तव्य है। साधकके जो हितैषी हों, मित्र हों, अपने हों उनका यह काम है कि वे जिस पवित्र मार्गपर, जिस भगवान्‌के मार्गपर साधक आरूढ़ है, उसमें उसकी सहायता करें। उसे सम्बल दें, उसका साथ दें, उसे सद्बुद्धि दें, कभी वह गिरता भी हो तो मोहवश उसे डिगायें नहीं, उसे बचा लें। तभी वे सच्चे हितैषी, सच्चे मित्र और सच्चे बान्धव हैं। (समाप्त)

प्रे०—श्रीमती कविता डालमिया

जो मनुष्य ईश्वरके अतिरिक्त न किसीसे डरता है और न किसीकी आशा रखता है तथा जिसे अपने सुख-संतोषकी अपेक्षा प्रभुका सुख-संतोष अधिक प्रिय है, उसीका ईश्वरके साथ मेल है।

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

(श्रीगोपालवैष्णवपीठाचार्यवर्य श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

हम जगद्गुरु श्रीकृष्णको नमस्कार करते हैं। वन्दन नमस्कारार्थक होता है। मुझसे आप उत्कृष्ट हैं और मैं आपसे निकृष्ट हूँ, यह नमनका अर्थ है। नमन करनेसे अहंकारका नाश हो जाता है तथा श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनर्जन्म नहीं पाता—**'कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।'**

वे श्रीकृष्ण कौन थे, इस जिज्ञासापर कहते हैं—वसुदेवसुत, अर्थात् वसुदेवजीके पुत्र वासुदेव ही श्रीकृष्ण हैं। अथवा सभीके अंदर निवास करनेसे वासुदेव कहलाते हैं। लौकिक दृष्टिसे नरवर प्रतीत होनेपर भी वे देवस्वरूपी हैं। देव शब्द 'दिवु' धातुसे निष्पन्न होता है। इस धातुके दस अर्थ होनेसे दशविध लीलाविशिष्ट श्रीकृष्णदेव हैं। अथवा अपनी लीलाद्वारा अपनेमें अपनेको ही ब्रह्माण्डसे प्रकाशित करनेसे देवशब्द-वाच्य है; क्योंकि श्रुतियोंमें एक ही अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है—**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।'** जब प्रभुको क्रीडा करनेकी इच्छा हुई, तब एकाकी कोई खेल नहीं सकता, अतः उन्होंने दूसरेकी अभिलाषा की—**'एकाकी न रमते द्वितीयमैच्छत्।'** अद्वितीय होनेसे दूसरा है ही नहीं, तब भगवान्ने बहुविध होनेकी इच्छा की—**'एकोऽहं बहु स्याम्'**, **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'**, **'सोऽकामयत बहु स्याम्'** आदि श्रुतियाँ बोधन कराती हैं। पुनः उन्होंने अपनेको ही क्रियाशक्तिद्वारा अगजगरूपसे परिणत कर लिया। तब तो स्थावर-जंगम जगत् ब्रह्मरूप ही है और वह सत्य है। जगत्को मिथ्या माननेसे ब्रह्म ही मिथ्या हो जाता है। अतः अहंता-ममतात्मक संसार ही मिथ्या है, जगत् नहीं। उस जगत्को अपनी चैतन्यशक्तिद्वारा प्रकाशित करनेवाले देव-प्रकाशक श्रीकृष्ण ही हैं। सूर्य-चन्द्र-तारे-विद्युत्-अग्नि सभी उसीके तेजसे प्रकाशित होनेवाले हैं, स्वतः नहीं। यह बात जगद्गुरु गीतोपदेशक भगवान् श्रीकृष्णने गीताके पंद्रहवें अध्यायमें स्पष्ट कही है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(१५।१२)

जैसे अग्निकी चिनगारियाँ आगसे प्रकाशित होती हैं, स्वतः नहीं तथा वे अग्निको भी प्रकाशित नहीं कर सकतीं, उसी तरह भगवान् श्रीकृष्णके तेजःपुञ्जसे सभी प्रकाश्य सूर्यादिक प्रकाशित होते हैं। जो प्रकाश्य वस्तु है वह प्रकाशकको प्रकाशित नहीं कर पाती। यह भी श्रुतिद्वारा प्रतिपादित है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २।२।१५)

श्रुति-प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि सर्वप्रकाशक, सर्वप्रवर्तक, सर्वप्रेरक, नियन्ता वही परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। वे सच्चिदानन्दमय सर्वत्र भीतर-बाहर व्याप्त हैं। जो अपने हृदयकमलमें उनका साक्षात्कार कर लेते हैं, वे ही शाश्वत सुख पा सकते हैं। कहा भी है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(कठ० २।२।१२)

सर्वलोकमूर्धन्य शाश्वत गोलोकधामसे वेद, गौ, ब्राह्मण, साधु, संत, भक्तजनोंकी रक्षा-हेतु पुरीश्वरी श्रीमथुरापुरीमें अवतार धारण करनेवाले श्रीकृष्ण नामी-धामी हैं। उनका नाम लेनेसे विविध फलोंकी प्राप्ति होती है। कलिकालमें भगवान्का तेजःपुञ्ज कृष्ण-वर्णका हो जानेसे परिपूर्णतम ब्रह्म श्रीकृष्ण कहलाते हैं। **'कृष्णः'** शब्दमें ककार, ऋकार, षकार, णकार, अकार और विसर्ग निहित है। उनमें ककार ब्रह्माका वाचक है, ऋकार अनन्त (शेष)

का वाचक है, षकार शिववाचक है, णकार धर्मका वाचक है, अकार श्वेतद्वीपनिवासी विष्णुका वाचक है तथा विसर्ग नर-नारायणका वाचक है। सभी तेजोंकी राशि सर्वमूर्तिस्वरूप सर्वाधार सभीके बीजकारण होनेसे श्रीकृष्ण ही जगद्गुरु हैं।

अथवा निर्वाण—मोक्ष देनेवाला कृष्णशब्दार्थ है। अथवा 'कृष्' पद निश्चेष्टताका बोधक है, णकार भक्तिका वाचक है, अकार दाताका वाचक है, अतः निश्चल भक्तिके दाता होनेसे वे श्रीकृष्ण कहलाते हैं। निश्चल प्रेम-भक्ति देना उन्हींके अधीन है। जिस प्राणीपर भगवान् अतिशय कृपा करेंगे, उसीको भक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। वे मुक्ति किसीको कभी दे सकते हैं, भक्ति नहीं—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥

(श्रीमद्भा० ५। ६। १८)

—इस भागवतीय वाक्यसे श्रीकृष्ण सभीके गुरु वर्णित हैं, जो भुक्ति-मुक्ति-भक्तिके दाता हैं। विष्णुके हजारों नामोंमें सभीका सार परात्पर सुन्दर भक्तिदायक 'कृष्ण' यह मङ्गलमय नाम है। उसके ककारके उच्चारण करनेसे जन्म-मरणरूप संसारको नष्ट कर कैवल्य-फल प्राप्त होता है, ऋकारके उच्चारणसे अतुल दास्यभाव एवं षकारोच्चारणसे अभीष्ट भक्ति प्राप्त होती है तथा णकारके उच्चारणसे सकल रोग और अकारोच्चारणसे मृत्यु—ये सभी हतप्रभ होकर भाग जाते हैं। ऐसे प्रभावशाली कृष्ण-नामके श्रवण-कीर्तन-स्मरण करनेसे श्रीकृष्णके किङ्कर रथ लेकर दौड़ते आते हैं। अतः नामी श्रीकृष्ण जगद्गुरु हैं, जो सभीके हितोपदेष्टा हैं। जिन्होंने त्रिलोकेश देवेन्द्रका जब मद चकनाचूर कर डाला था, तब देवेन्द्रने व्रज-विप्लवकारी मेघोंकी निवृत्ति कर स्वयं उनकी शरणमें जाकर प्रार्थना की थी—

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो
दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे
मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २७। ६)

अर्थात् 'आप ही सकल जगत्‌के पिता, गुरु, नियन्ता, दण्डधर काल हैं तथा अपनेको जगदीश माननेवाले दुरभिमानियोंका मान-मर्दन करते हुए स्वेच्छानुसार जलचर-थलचर-नभचर आदिमें अवतार लेकर जगत्‌के हितके लिये चेष्टा करते हैं।' इस इन्द्रके वाक्यसे भी श्रीकृष्णका जगद्गुरु होना सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने द्वेषरूपी चाणूर और कलिरूपी कंसका मर्दन कर डाला था—**'द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं कलिः कंसश्च भूपतिः।'** इस वाक्यसे चाणूरका प्रतीकात्मक अर्थ द्वेष है और कंसका कलियुग। दैत्याक्रान्त वसुमतीका भार उतारनेवाले वेद, गौ, धर्म, ब्राह्मण, संत-भक्तोंके रक्षक कल्याणकारी श्रीकृष्ण ही हैं। बिना दुष्टोंके दमन किये सज्जनोंकी सुरक्षा असम्भव है।—

'साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते॥'

(श्रीमद्भा० १। १७। १४)

अनादि परम्परागत सनातन वर्णाश्रम-धर्मके पथपर अग्रसर रहनेवाले भक्तजनोंकी सुरक्षाके लिये ही दुराचारी कंस प्रभृति दैत्योंका नाश करनेके हेतु भगवान् श्रीकृष्णने भूतलपर अवतार ग्रहण किया था तथा उद्धव-गीता एवं अर्जुन-गीतामें मानवमात्रका कल्याण करनेके लिये अधिकारके अनुरूप कर्म-ज्ञान-भक्तिका उपदेश दिया था। राजनीति-कूटनीतिके अद्वितीय ज्ञाता होनेके कारण इन्हें धर्मराज युधिष्ठिरने राजा दुर्योधनको समझानेके लिये धृतराष्ट्रकी राजसभामें निजी दूत बनाकर भेजा था। वहाँ जाकर श्रीकृष्णने मधुर वाक्यावलिद्वारा धृतराष्ट्रादि दुरभिमानियोंको समझाया-बुझाया, परंतु उन दुष्टोंने उनकी बात नहीं मानी। जिसका कुपरिणाम कौरवोंको भुगतना पड़ा—

यदा च पार्थप्रहितः सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः॥

(श्रीमद्भा० ३। १। ९)

भगवान् श्रीकृष्ण सांदीपनि गुरुके पास पढ़ने गये थे। वे चौंसठ अहोरात्रमें एक बार श्रवणमात्रसे ही चौंसठ कलाओंमें प्रवीण हो गये थे। यह देखकर गुरु एवं गुरुकुलवासी आश्चर्यचकित हो गये थे। गुरुदक्षिणाके रूपमें मृत बालक माँगा गया था। श्रीकृष्णने संयमनीपुरी जाकर गुरुपुत्र लाकर गुरुदक्षिणा दी। ऐसा कठिन काम दूसरा नहीं कर सकता। ऐसे सर्वज्ञ जगद्गुरु श्रीकृष्णका विद्याध्ययन करना दूसरोंको शिक्षा देनेके लिये है।

इसका उदाहरण यह है कि देवर्षि नारदजी द्वारकापुरीमें परमैश्वर्यशाली श्रीकृष्णकी योगमायाका वैभव देखने गये थे। वहाँ भगवान्‌की मानुषी चेष्टा देखकर जब वे खिन्न हो गये, तब भगवान्‌ने कहा—'ब्रह्मन्! मैं धर्मका वक्ता, कर्ता और अनुमोदक हूँ, फिर मनुष्यलोकको शिक्षा देनेके लिये ऐसा करता हूँ, पुत्र! खेद मत करो'—

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः॥

(श्रीमद्भा० १०।६९।४०)

इस प्रकार लोकशिक्षाके लिये जो वे कहते हैं, उसे करते हैं। वही अनुकरणीय माना गया है। अतः शास्त्रदृष्टिसे अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करनेसे ऐहलौकिक सुख तथा पारलौकिक गति—दोनों सुलभ होते हैं। अन्यथा विपरीत फलकी प्राप्ति होती है। यह बात जगद्गुरु श्रीकृष्णने गीतामें स्पष्टरूपसे कही है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(१६।२३)

'जो मनुष्य शास्त्रविधान (विधि-निषेध) का परित्याग कर स्वेच्छाचारी होता है, वह चित्तकी शुद्धि, शाश्वत सुख एवं संसारसे छुटकारा नहीं पाता।' अतः वेदाज्ञारूप शास्त्रको प्रमाण मानकर इस मनुष्यलोकमें शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये। लोकान्तरोंमें कर्ममें अधिकार ही नहीं है। भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। यहाँ जैसे पुण्य-पापमिश्रित कर्म बनेंगे, उन्हींके अनुसार देव-मनुष्य-तिर्यगादि योनियोंमें गति मिलती है। इस कर्मक्षेत्र भारतमें वेदप्रतिपादित ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र—जाति-विशिष्ट मनुष्योंको अपने वर्ण-आश्रममें विहित कर्मोंको करना ही परमधर्म है, जिसके द्वारा चित्तकी शुद्धिपूर्वक श्रीकृष्णतत्त्वका ज्ञान एवं भक्तिका उदय होता है तथा जिससे अपनी आत्माको शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। यही जगद्गुरुका सदुपदेश है। तदनुसार आचरण करना ही श्रीकृष्णके चरणोंमें बद्धाञ्जलिपूर्वक श्रद्धाञ्जलि है।

श्रीकृष्णचन्द्र जगद्गुरु होनेके कारण नृपवर-नरवर-मुनिवरोंसे खचाखच भरे हुए धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें अग्रपूजाको प्राप्त हुए थे। वहाँ उन्होंने उसका विरोध करनेवाले शिशुपालका संहार किया था। इस प्रकार श्रीकृष्ण शान्ति-क्रान्तिके मार्गगामी थे। इसके उदाहरण महाभारत-भागवतादि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। उनकी शिक्षाको ग्रहण करनेके लिये उनकी वाणीका देश-विदेशोंमें अपनी-अपनी भाषामें अनुवाद हो चुका है, जिसे दुनिया मान्यता प्रदान करती है। उनके विचारोंको हृदयङ्गम करनेसे आत्मकल्याण होता है। ऐसे देवकी माताके परमानन्दसागर सदानन्दरूप श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।

एक बार श्रीकृष्णको किया गया प्रणाम दस अश्वमेध-यज्ञके अवभृथ-स्नानके तुल्य है, किंतु पुण्यके समाप्त होनेपर दशाश्वमेधी पुरुष पुनर्जन्म लेता है, परंतु श्रीकृष्णको वन्दन करनेवाला जन्म-मरणरूप संसारसे विमुक्त हो जाता है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

विपक्षमें यमयातनारूप दोष होता है। यमदूतोंको यमराजने आज्ञा दी कि जिसकी जीभ श्रीकृष्णके नाम-लीला-गुणोंका गान न करे और मन उनके चरणोंका स्मरण न करे तथा जिसका सिर श्रीकृष्णके चरणोंमें न झुके ऐसे श्रीकृष्णकी सेवासे विमुख जनोंको मेरे निकट लाना चाहिये—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२९)

वन्दन-कर्म नवधा भक्तिका एक अङ्ग है। वन्दना भक्ति-नगरीमें प्रवेश करानेवाली गली है, जिसमेंसे होकर भक्तप्रवर अक्रूरजीने श्रीकृष्णसे भेंट-वार्ता की थी। उसी पथका पथिक बनकर जो कोई प्राणी अग्रसर होगा, वह भी श्रीकृष्णके निकट पहुँचकर उनके चरणोंमें नतमस्तक होकर वन्दन करनेका अधिकारी होगा।

जिनके चरण-कमल सदा ध्यान करने योग्य तथा मनोवाञ्छित फल देनेवाले हैं, जिनके चरणोंमें समस्त तीर्थ निवास करते हैं, जिन्हें शिवजी, ब्रह्माजी प्रभृति देवगण नमस्कार करते हैं, जो अपने भृत्यवर्गकी पीड़ा दूर करनेवाले, शरणागत भक्तका पालन करनेवाले तथा उसे भवसागरसे पार उतारनेवाले हैं, उन श्रीकृष्णके चरणोंमें मैं शतशः वन्दना करता हूँ।

भगवान् रामकी कृपापरवशता

ऐसे राम दीन-हितकारी।
अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी ॥
साधन-हीन दीन निज अघ-बस, सिला भई मुनि-नारी।
गृहतें गवनि परसि पद पावन घोर सापतें तारी ॥
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु-समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल-जाति बिचारी ॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी ॥
बिहँग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक-समान क्रिया ताको निज कर सब भाँति सँवारी ॥
अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक-बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥
कपि सुग्रीव बंधु-भय ब्याकुल, आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जनके हत्यो बालि, सहि गारी ॥
रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर, कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी ॥
असुभ होइ जिन्हके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी।
बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ! तुम्हारी ॥
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दास तुलसीपर, काहे कृपा बिसारी ॥

(विनय-पत्रिका)

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[सच्चा आश्रय]

किसी-न-किसीका आश्रय लेना मनुष्यमात्रका स्वभाव है। ऐसे तो जीवमात्र किसी-न-किसीका आश्रय लेना चाहता है, किसी-न-किसीको आधार बनाना चाहता है। ऐसा स्वभाव क्यों है? क्योंकि यह परमात्माका अंश है। अगर यह परमात्माका ही आश्रय ले तो फिर इसे दूसरा आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी, परंतु जबतक यह परमात्माका आश्रय नहीं लेता, तबतक यह अनेक आश्रय लेता रहता है। लेना तो चाहिये भगवान्‌का आश्रय, पर उस जगह दूसरी चीजका आश्रय ले लेता है। धनका आश्रय ले लेता है, परिवारका आश्रय ले लेता है, विद्याका आश्रय ले लेता है, योग्यताका आश्रय ले लेता है, बलका आश्रय ले लेता है, पर यह आश्रय टिकता नहीं।

आश्रय परमात्माका ही लेना चाहिये—यह बात समझनेमें ठीक दीखती है और मानते भी हैं, पर दूसरा आश्रय छोड़ते नहीं। यद्यपि दूसरा आश्रय छोड़नेमें आप पराधीन नहीं हैं, स्वाधीन हैं, परंतु दूसरेका विशेष आश्रय लेनेसे, उसका सुख पाते रहनेसे अपनेमें एक ऐसा वहम हो गया है कि इनका आश्रय छोड़नेपर हम कैसे रहेंगे, कैसे जीयेंगे? हमारा निर्वाह कैसे होगा? ऐसा भाव होनेसे अपनेमें यह कायरता आ गयी कि इनका आश्रय हम छोड़ नहीं सकते।

जब गाढ़ी नींद आती है, उस समय किसका आश्रय रहता है? किसीका आश्रय नहीं रहता, परमात्माका भी आश्रय नहीं रहता। उस अवस्थामें एक बेहोशी रहती है। बेहोशीमें संसारका आश्रय तो छूटता है, पर मूढ़ता (अज्ञान) का आश्रय रहता है। यह जो वहम है कि संसारके आश्रयके बिना हम जी नहीं सकेंगे, तो फिर सुषुप्तिमें आप कैसे जीते हैं? सुषुप्तिमें संसारका आश्रय न रहनेपर भी आप रहते हैं। कृपा करके एक और बातकी तरफ आप ध्यान दें। संसारका आश्रय लेनेसे इतना सुख नहीं मिलता है, जितना सुख संसारका आश्रय छोड़नेसे नींदमें मिलता है। संसारका आश्रय छोड़नेसे जो सुख मिलता है, जो ताजगी मिलती है, जो काम करनेकी शक्तिका संचय होता है, वह संसारका आश्रय लेते हुए नहीं होता। शक्तिका संचय दूर रहा, उलटे शक्ति खर्च होती है। धन, परिवार, बुद्धि, योग्यता आदि किसीका भी आश्रय लेते रहनेसे आप बेचैन हो जाते हैं, थक जाते हैं, आपकी शक्ति क्षीण हो जाती है, फिर आप सबको छोड़कर सो जाते हैं। सोते-सोते आपमें पुनः शक्ति आ जाती है। इस प्रकार संसारका आश्रय छूटनेसे आपके पास बहुत विलक्षण ताकत आयेगी; और परमात्माका आश्रय लेनेसे ताकतका कोई पारावार नहीं रहेगा, इतनी असीम, अपार ताकत आयेगी कि फिर भय और चिन्ता रहेंगे ही नहीं। उसीके लिये कहा है—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (गीता ६।२२)। उससे बढ़कर कोई लाभ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं, परंतु वह नाशवान्‌का आश्रय छोड़नेसे ही मिलेगा।

आपसे गलती यह होती है कि जिसे आप नाशवान् मानते हैं, जानते हैं, उसका आश्रय नहीं छोड़ते। जप-ध्यान करते हैं, कीर्तन करते हैं, चिन्तन करते हैं, पर साथ-साथ नाशवान्‌का आश्रय भी रखते हैं। नाशवान् संसारका आश्रय सर्वथा छोड़े बिना परमात्माका आश्रय पूरा नहीं लिया जाता। पूरा आश्रय लिये बिना पूरी शक्ति नहीं मिलती। परमात्माकी तरफसे कोई कमी नहीं है। आप परमात्माका जितना आश्रय लेंगे, उतना आपको आश्वासन मिलेगा, शक्ति मिलेगी, लाभ होगा, परंतु संसारका आश्रय सर्वथा छोड़कर परमात्माके आश्रित हो जायँगे तो अपार बल मिलेगा।

वे परमात्मा कहाँ हैं—इसमें एक बात बतायें कि वे सबके हृदयमें हैं—**'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** (गीता १५।१५); **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता १८।६१)। वे सम्पूर्ण जीवोंके भीतर हैं; परंतु यह बाहरकी तरफ ही देखता है, भीतरकी तरफ देखता ही नहीं। आप अपनेको मानते हैं कि मैं हूँ, उस 'मैं'-पनका आश्रय आत्मा है और आत्माका भी आश्रय

परमात्मा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। आपका आत्मा उस परमात्माका अंश है। आप एक क्षेत्रमें हैं और आपके अंशी परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें हैं—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत**' (गीता १३।२)। गोपिकाओंने कहा है—'**न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।**' आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं, प्रत्युत जितने भी शरीरधारी हैं, चाहे वे स्थावर हों, जंगम हों, देवता हों, राक्षस हों, भूत-प्रेत-पिशाच हों, नरकोंमें रहनेवाले हों, भजन-ध्यान करनेवाले हों, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हों, भगवत्प्रेमी हों, उन सबकी अन्तरात्माके द्रष्टा आप हैं। पर ऐसा होते हुए आप यहाँ कैसे आ गये?'

'**विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥**'

(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

'ब्रह्माजीनें प्रार्थना की तो आप प्रकट हुए। किसलिये प्रार्थना की? '**विश्वगुप्तये**' अर्थात् संसारकी रक्षा करनेके लिये; क्योंकि संसारकी रक्षा आप ही कर सकते हैं और किसीमें ताकत नहीं है करनेकी। आप इन यादवोंके कुलमें प्रकट हुए हैं—'**उदेयिवान्**', पैदा नहीं हुए हैं। जैसे सूर्यका उदय होता है तो ऐसा कोई नहीं कहता कि सूर्य पैदा हो गया; क्योंकि उदय होनेसे पहले भी सूर्य है। जब वह हमारे सामने आ जाता है, तब उसका उदय होना कहते हैं। ऐसे ही वे परमात्मा प्रकट होते हैं, हमारे शरीरोंकी तरह जन्म नहीं लेते।

मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, व्यक्ति, वस्तुएँ, पदार्थ, रुपये-पैसे आदि कोई भी आपका नहीं है, आपके साथ रहता नहीं है, प्रतिक्षण आपसे अलग हो रहा है, फिर भी आप इनका आश्रय लेते हैं। ये मन, बुद्धि आदि तो आपके आश्रित रहते हैं, पर अपने आश्रित रहनेवाली वस्तुओंका आप आश्रय लेते हैं, अपने उद्योगसे पैदा होनेवाले धनका आश्रय लेते हैं—यह गलती करते हैं। इनका आश्रय न लेकर एक भगवान्का आश्रय लें—'**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८।६६)। '**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्**' (गीता १८।६२)—जो सबके हृदयमें विराजमान है, उस ईश्वरकी ही सर्वभावसे शरण ले लें। उसकी कृपासे परमशान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति) और अविनाशी परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। भगवान्का आश्रय लेनेमें हम सब-के-सब स्वतन्त्र हैं, कोई भी पराधीन नहीं है। उनका आश्रय लेनेमें कोई अयोग्य भी नहीं है।

आप इसी क्षण परमात्माका आश्रय ले सकते हैं; क्योंकि वह आपके पास है और आप उसके पास हैं। वह आपसे अलग नहीं हो सकता और आप उससे अलग नहीं हो सकते। अगर वह आपसे अलग हो जाय तो ईश्वर दो हो जायँगे, एक वह और एक आप। उसकी जो अखण्डता है, सर्वोपरि भाव है, व्यापकता है, वह खण्डित हो जायगी। आपसे अलग होनेपर उसकी महत्ता रहेगी ही नहीं। अतः वह आपसे अलग हो ही नहीं सकता। आप भी उससे अलग नहीं हो सकते। हाँ, आप अपनेको उससे अलग मान सकते हैं, पर अलग हो नहीं सकते। ऐसे ही आप अपनेको संसारके आश्रित मान सकते हैं, पर आश्रित हो नहीं सकते। आपने शरीरका आश्रय लिया, धनका आश्रय लिया, पर क्या आप इनके आश्रित रह सकते हैं? इनके आश्रित कोई रह सकता ही नहीं। फिर भी आप इनका आश्रय मान लेते हैं, यह गलती करते हैं; क्योंकि यह निभनेवाला नहीं है। इनका साथ रहनेवाला नहीं है, ये सब छूटनेवाले हैं। अतः इनसे विमुख होकर एक भगवान्का ही आश्रय लें, औरका आश्रय मत लें। धनका सदुपयोग करें, सब काम करे, पर आश्रय एक भगवान्का ही रखें। संतोंने कहा है—

पतिव्रता रहे पतिके पासा। यों साहिबके ढिग रहे दासा॥

जैसे पतिव्रता पतिके आश्रित रहती है, ऐसे ही भक्त भगवान्के आश्रित रहते हैं। जगज्जननी जानकीजी सास-ससुरको माता-पितासे भी अधिक आदर देती थीं; परंतु जब भगवान् वनवासके लिये पधारे, तब जानकीजीने उन्हें भी छोड़ दिया। दशरथजीने यहाँतक कह दिया कि अगर जनकराजदुलारी यहाँ रह जाय तो मेरे प्राण रह सकते हैं, फिर भी वे नहीं रहीं। वे कहती हैं कि 'मैं रह सकती ही नहीं। चाँदनी चन्द्रमाको छोड़कर कैसे रह जाय? सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़कर कैसे रह जाय? शरीरकी छाया शरीरको छोड़कर कैसे रह जाय?'

ऐसे ही कोई भी जीव परमात्मासे अलग रह सकता ही नहीं; परंतु यह परमात्माका आश्रय न लेकर अलग होनेवाले (संसार) का आश्रय लेता है, इसीसे यह दुःख पा रहा है। अगर यह अलग होनेवालेका आश्रय न ले और सदा साथ रहनेवालेका आश्रय ले ले तो निहाल हो जाय। आप अभी यह निश्चय कर लें कि हम संसारका आश्रय नहीं लेंगे। धन कमायेंगे, रखेंगे, पर उसका आश्रय नहीं लेंगे। संसारका काम करेंगे, पर संसारका आश्रय नहीं लेंगे। इतने दिन संसारसे लिया है, अब उसका कर्जा चुकानेके लिये काम करना है, पर आश्रय नहीं लेना है। संसार आश्रय लेनेके योग्य है ही नहीं; क्योंकि यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। यह इतनी तेजीसे बदलता है कि इसे दुबारा नहीं देख सकते। केवल बदलनेके पुञ्जका नाम संसार है। जैसे भगवान् कृपाकी मूर्ति हैं,* ऐसे ही यह संसार बदलनेकी मूर्ति है। बदलनेके सिवाय इसमें और कुछ भी नहीं है। ऐसे संसारका आश्रय आपने मान रखा है। अब इससे विमुख होकर केवल भगवान्के चरणोंका आश्रय ले लें और अभी ले लें, अभी।

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई', 'एक बानि करुनानिधानकी। सो प्रिय जाकें गति न आनकी।'—

दूसरेका आश्रय न लें। सर्वभावसे भगवान्की शरण हो जायँ—**'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन'** (गीता १८।६२), **'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन'** (गीता १५।१९), ***'सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ'*** (मानस ७।८७ क)। वास्तवमें भगवान्के साथ आपका स्वतः सिद्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है। बदलनेवालेके साथ सम्बन्ध न जोड़ें—इतनी ही बात है।

मेरा महत्त्व मेरे प्रभुकी दृष्टिमें है

जीवनके सुखदायी अनुभवोंमेंसे ही मैं इस सत्यको भलीभाँति अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे प्रभु मेरी कभी भी उपेक्षा नहीं करते, कभी भी मुझे अपनी दृष्टिसे ओझल नहीं होने देते। जीवनमें ऐसे अवसर आ सकते हैं जब मुझे यह प्रतीत होता है कि मेरे प्रयत्न, मेरे शुभ प्रयास, मेरा परिश्रम, मेरी आकाङ्क्षाएँ दूसरोंकी दृष्टिमें नगण्य हैं, अप्रशंसनीय हैं। ऐसे ही अवसरोंपर मैं यह अनुभव करता हूँ कि प्रभुकी दृष्टिमें मैं हूँ—बस, यही सचमुच महत्त्वपूर्ण है, अन्य तो सब कुछ गौण है।

जब मैं स्वयंको अयोग्य, असमर्थ, तुच्छ एवं नगण्य अनुभव करने लगता हूँ, तब हृदयकी करुण-भाषाद्वारा प्रभुके अत्यधिक निकट सम्पर्कमें अपनेको अनुभवकर उनसे अपने सम्पूर्ण प्रयत्नों एवं सम्पूर्ण मानसिक प्रेरणाओंको उनकी असीम कृपासे आप्लावित कर देनेके लिये कहता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरा महत्त्व केवल उन्हींकी दृष्टिमें है और केवल वे ही मेरे प्राणोंकी झंकृतिको समझ सकते हैं, केवल वे ही उसपर ध्यान देंगे।

किसीने कहा है कि जब कोई वस्तु जलमें डुबायी जाती है तब वह जलद्वारा आत्मसात् होनेमें जलको कोई अतिरिक्त कष्ट नहीं देती। जैसे किसी भी आकार-प्रकारकी कोई भी वस्तु महासागरमें गिरती है, तो जल तत्क्षण स्वाभाविक ही चारों ओरसे उसे आवृत कर लेता है—उसे कोई अतिरिक्त कष्ट नहीं होता। इसीलिये मैं यह जानता हूँ कि मेरा अस्तित्व प्रभुके स्नेह-सागरमें डूब गया है। उन्हें मुझे अपने सहज स्नेहद्वारा आत्मसात् करनेमें तथा अपने समस्त दैवी गुणोंसे अभिभूत करनेमें कोई अतिरिक्त कष्ट नहीं है।

इस तथ्यको समझकर मैं यह जानता हूँ कि प्रभुकी मुझपर अनन्त कृपा है, मेरे कार्योंमें उन्हींकी प्रेरणा है, मेरी आकाङ्क्षाओंमें उनकी कृपाका ही बल है, मेरे उद्देश्योंको उनकी कृपाका ही सम्बल प्राप्त है।

मैं प्रसन्न हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरा महत्त्व केवल मेरे प्रभुकी दृष्टिमें है।—कुंजबिहारी

---

* 'प्रभु मूरति कृपामई है' (विनयपत्रिका १७०।७)

उद्धव-संदेश—२१

(डॉ॰ श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्॰ए॰, पी-एच्॰डी॰)

उद्धवजीने '**श्रीभगवानुवाच**' कहकर संदेशकी प्रथम सूचना दी। ऐसा करनेमें उनका आन्तरिक आशय था कि गोपियो! मैं आपलोगोंके समक्ष श्रीकृष्णके संदेश-वचनको अक्षरशः ही निवेदन करूँगा। उन्होंने जैसा कहा था ठीक वैसा ही सुना दूँगा **(तदक्षरेणैव)**। यदि मैं उनके वचनोंका भाव ग्रहण कर पाता तो उनकी भाषामें थोड़ा-बहुत हेर-फेर करनेपर भी सम्भवतः चल जाता, किंतु जिस वाणीके भावको ग्रहण करनेमें मैं सम्पूर्णरूपसे अक्षम रहा हूँ, उसके शब्द बदलनेका दुःसाहस मुझमें नहीं है। मैं उनका संदेश वहन करके लाया अवश्य हूँ, फिर भी जिस प्रकार पत्रवाहक केवल पत्रका शिरोनामा ही देखता है, उसी प्रकार मैंने तो इस संदेशको केवल बाहरसे देखा है, भीतरमें क्या तात्पर्य है यह वक्ता जाने या फिर सम्भवतः आपलोग उसका तात्पर्य समझ सकें। **(नाहं विवेक्तुं शक्नोमि, किंतु भवत्य एव विचारयन्त्विति**—श्रीसनातन)।

श्रीकृष्णकी प्रथम वाणी—आपको प्रेषित इस संदेशका प्रथम वाक्य है—

'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।'

(श्रीमद्भा॰ १०।४७।२९)

श्रीहरिकी उक्ति अत्यन्त संक्षेपमें है, केवल एक बात कही है—'सर्वात्मक मेरे साथ आपलोगोंका कभी कोई विरह नहीं हो सकता।' किंतु इतनी-सी बातका तात्पर्य अत्यन्त गम्भीर है।

उद्धवजी श्रीकृष्णकी संवित्-शक्तिकी मूर्ति हैं—ज्ञान-प्रधान हैं। उन्होंने श्रीकृष्णके वाक्यका ज्ञानपरक अर्थ समझा है। गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णकी ह्लादिनी-शक्तिकी मूर्ति हैं—प्रेम-प्रधान हैं। उन्होंने प्राणप्रियकी वाणीका रस-प्रधान अर्थ लिया है। वक्ता श्रीकृष्ण स्वयं नित्यकाल जिस शक्तिद्वारा नित्यलीलामें स्थित रहते हैं, उसे सच्छक्ति या संधिनी-शक्ति कहते हैं। उन्होंने इसे संधिनी-प्रधान नित्यलीलापरक अर्थमें व्यवहार किया है।

वाक्यके तीन प्रकारके अर्थ होते हैं। श्रीकृष्णके अन्तरमें जो अर्थ है, वह सत्प्राधान्यद्वारा संधिनी-सेवित है। उद्धवजीने जो अर्थ ग्रहण किया है, वह चित्प्राधान्यसे संवित्सेवित है। व्रजाङ्गनाओंने जो अर्थ ग्रहण किया है, वह आनन्द-प्राधान्यसे ह्लादिनी-सेवित है। प्रथमतः हम तीनों अर्थोंका ही संक्षेपमें अनुध्यान करेंगे, फिर व्रजाङ्गनाओंद्वारा गृहीत अर्थका ही अनुसरण करेंगे। तीनों प्रकारके अर्थोंके आलोचना-प्रसंगमें प्रथम उद्धव-गृहीत अर्थ, पश्चात् गोपीभावित अर्थ और तदनन्तर श्रीकृष्ण-प्रेषित अर्थका आस्वादन करेंगे। श्रीशुकदेवजीकी कृपा बिना इसमें प्रवेश करनेका कोई उपाय नहीं है।

श्रीकृष्णने कहा—'सर्वात्मक मेरे साथ आपलोगोंका कोई वियोग नहीं हो सकता।' इस बातमें उद्धवजीने समझा है कि श्रीकृष्ण ही सर्वात्मा हैं। उपादानरूपसे और अन्तर्यामीरूपसे वे सम्पूर्ण विश्वकी सर्ववस्तुओंमें तथा सर्वप्राणियोंमें अनुस्यूत हैं। अतएव वे गोपियोंके मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सभीमें आश्रयरूपसे चिरविराजमान हैं। फलस्वरूप श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका क्षणभरके लिये भी विरह नहीं हो सकता। दृष्टान्त देकर बताया है कि जिस प्रकार आकाश पृथ्वीके प्रत्येक अणु-परमाणुमें अन्तर्भूतरूपसे विद्यमान है, उसी प्रकार वे भी सबकी आत्मामें अनुप्रविष्ट हैं। 'सब आत्माओंकी आत्मा हैं' कहकर श्रीकृष्ण सर्वात्मक हैं। अतएव उनके साथ किसीका वियोग होनेकी सम्भावना ही नहीं है। सर्वदा सभी वस्तुओंके साथ उनका योग बना ही हुआ है। जहाँ वियोग ही नहीं हो तो फिर विरहकी सम्भावना कहाँसे पैदा हो? उद्धवजीने 'सर्व' का अर्थ समझा है—'विश्वमें जो कुछ है वह सब' और आत्मा-पदसे अर्थ समझा है—परमात्मा। उद्धवजीने सही ही समझा है। ज्ञानमतसे परमात्माके साथ किसीका भी विरह हो ही नहीं सकता।

अब देखें गोपियोंने श्रीकृष्णके इस वाक्यका क्या अर्थ लिया है। **'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।'** मेरे साथ तुम्हारा कभी सर्वात्मक वियोग नहीं होता। जो वियोग कभी होता है, वह केवल आंशिक है। कारण, तुम्हारे भीतर-बाहर सर्वत्र मैं निरन्तर स्फूर्त

हो रहा हूँ। किसी भी समय तुम्हारी मनोवृत्तियाँ मुझे छोड़कर नहीं रहतीं। मैं तुमलोगोंसे दूर हूँ केवल देहके द्वारा; मन, प्राण, बुद्धिद्वारा तो तुम्हारे साथ युक्त ही हूँ। अधिकंतु, देहद्वारा भी कभी-कभी तुम्हारे साथ युक्त होता ही हूँ।

तुमलोग जिसे मात्र स्फूर्ति समझती हो, वस्तुतः वह मेरे साथ साक्षात्कार ही है। तुमलोग जब विरहमें मूर्च्छित होकर पड़ जाती हो, तब मैं स्वयं आकर आदर-यत्न एवं आलिङ्गनादि प्रदान कर तुम्हें सुख-समुद्रमें डुबोकर तुम्हारी मूर्च्छा भंग करता हूँ, किंतु जब तुम जागती हो, तब मेरे दर्शनको केवल स्वप्न ही समझ बैठती हो। वस्तुतः वह स्वप्न नहीं है, मेरा प्रत्यक्ष आगमन ही है। जिस प्रकार आकाश सर्वभूतोंमें अनुस्यूत है, उसी प्रकार मैं कृष्ण भी तुम्हारे मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियों आदिका आश्रय हूँ। तुम्हारे मन-प्राण-बुद्धि-इन्द्रियाँ-गुणसमूह सभी तो कृष्णमय हैं। जिस प्रकार आकाश वस्तुके भीतर और बाहर व्याप्त है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे भीतर-बाहर सर्वत्र सर्वदा तुम्हें घेरे हुए हूँ। अतएव विरह कहाँ है?' गोपियोंने 'सर्व' पदका अर्थ लिया है भीतर-बाहर सर्वत्र और 'आत्मा' पदका अर्थ लिया है देह। उद्धवजीकी भावनासे **'सर्वात्मना'** शब्द श्रीकृष्णका विशेषण है, गोपियोंकी भावनासे वही शब्द वियोगका विशेषण है। पहलेका अर्थ हुआ—'सर्वात्मक मेरे साथ तुम्हारा वियोग नहीं।' दूसरे प्रकारसे अर्थ हुआ—'मेरे साथ तुम्हारा सर्वात्मक वियोग नहीं होता, आंशिक वियोग-मात्र होता है।'

केवल इस देहके साथ तुम्हारा सामयिक अ-मिलन होता है। विरहकी मध्यस्थतासे भीतर-बाहर, स्वप्न-जागरण-सुषुप्ति-अवस्थामें तुम्हारे साथ मिलन ही विद्यमान रहता है। विरहकी सामर्थ्य ही ऐसी है कि प्रियको जगन्मय दर्शन कराता है।—**'त्रिभुवनमपि तन्मयम्।'**विरहजन्य मिलनानन्द-सम्भोगको गम्भीररूपसे आस्वादन करानेका उपाय एकमात्र विरह ही है। प्रियतमके विरहमें जिस प्रकार गम्भीर-रूपसे आनन्दका आस्वादन किया जाता है, वैसा मिलनमें नहीं हो पाता। मिलन सर्वदा ही भङ्गकी आशङ्काजनित चाञ्चल्यके आवरणसे आवृत रहता है। विरह सतत भङ्ग-आशङ्का-आवरणसे मुक्त रहता है एवं स्वच्छन्दभोगके प्रकाशसे समुज्ज्वल रहता है।

सम्भोगमें भोग होता है। विप्रलम्भमें भोगकी वृद्धि होती है। 'वि' का अर्थ है विशेषरूपसे भोग और 'रह' का अर्थ है नित्य-स्थिति। इसीलिये श्रीकृष्णने गोपियोंसे कहा है—'तुमलोगोंके साथ मेरा वियोग नहीं होता। विरहके माध्यमसे भीतर-बाहर, स्वप्न-जागरणमें मिलन ही विद्यमान रहता है।' ह्लादिनी-शक्ति व्रजाङ्गनाओंने स्वकीय प्रेमानुभवसिद्ध यह रस-प्रधान अर्थ ही ग्रहण किया है।

श्रीकृष्णने यह बात किस तात्पर्यको ध्यानमें रखकर कही थी, अब हम उसपर विचार करेंगे। उनका तात्पर्य है—गोपियो! तुमलोगोंके साथ मेरा वियोग सर्वतोभावसे नहीं है। केवल इस प्रपञ्चमय प्रकटलीलामें हमारा विरह है। अप्रकट नित्य-लीलामें तो नित्यकाल नित्यमिलन ही रहता है। जिस प्रकार आकाश वस्तुमें छिपा हुआ रहता है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारी विरहावस्थामें जहाँ तुमलोग विलाप कर रही होती हो, वहींपर तुमलोगोंके सङ्ग अप्रकट लीला-विलासमें सर्वदा विभोर रहता हूँ। नित्यवृन्दावनमें मैं नित्यकाल नित्यमिलनमें ही स्थित रहता हूँ। केवल इस भौमवृन्दावनमें ही तुमलोगोंके साथ मेरा विरह होता है। नित्यलीलामें मैं किस रूपमें स्थित रहता हूँ, वह भी सुन लो। तुम्हारे मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं गुणसमूहका एकान्त आश्रय है मेरा 'गोपवेश वेणुकर नव-किशोर नटवर-रूप।' अप्रकट नित्यलीलामें मैं तुमलोगोंके सङ्ग नित्य उस वेणुविलासी श्यामसुन्दर-रूपमें ही विलास करता हूँ। (**भवतीनां मन आद्याश्रयाकारः श्यामसुन्दरो वेणुविलासरूप एव सन्**—श्रीसनातन)।

सुतरां 'सर्वात्मा' द्वारा विरह सूचित ही नहीं होता। 'सर्व' पदका तात्पर्य है 'प्रकट एवं अप्रकट'। 'आत्मा' पदका अर्थ है 'लीला'। प्रकट एवं अप्रकट दोनों अवस्थाओंमें ही मेरा तुम्हारे साथ विरह नहीं होता। अप्रकट नित्यविहारकालमें नित्ययोग सर्वकाल ही रहता है। 'सर्वात्मक' शब्द श्रीकृष्णके साथ अन्वित करनेपर अर्थ होगा 'प्रेमानुभवसिद्ध।' अतः 'न' के साथ अन्वय करके अर्थ हो जायगा 'नित्यलीलापरक'।

इसके बाद उद्धवजीने श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उच्चरित और भी कई श्लोक कहे हैं। प्रत्येकके इसी प्रकार तीन प्रकारके अर्थ हैं। ह्लादिनी-शक्तिरूपिणी व्रजबालाओंने उन श्लोकोंका जो अर्थ अनुभव करके ग्रहण किया है, अब हम केवल उसी अर्थका अनुसरण करेंगे।

प्राणप्रियतमकी वाणी सुनकर गोपियाँ कह रही हैं—'यह बात सत्य है कि तुम हमारे मन-प्राणोंमें स्फूर्त होते हो, किंतु जिस प्रकार तुम हमारे पास स्फूर्त होते हो, उस प्रकार हम तो तुम्हारे पास स्फूर्त नहीं होतीं **(सत्यमस्मासु तथैव त्वं स्फुरसि त्वयि तु न वयम्**—श्रीसनातन)। जैसे तुम हमारी बुद्धि एवं इन्द्रियोंको आश्रय करके सतत प्रकाशित होते हो, क्या हम भी उसी प्रकार तुम्हारे मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयरूपसे प्रकाशित होती हैं?

और भी एक बात है—'साधारणतः हम स्फूर्ति, स्वप्न, स्वाप्निक अवस्था-व्यतिरिक्त अन्य अवस्थाके मिलनको ही मिलन नाम दिया करती हैं। स्वप्नके दर्शनको हम वियोग ही कहेंगी।' इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'व्रजाङ्गनाओ! मैं अपनी देहसे तो तुमलोगोंसे बहुत दूर मथुरामें अवश्य आ गया हूँ, किंतु यहाँ रहते हुए भी मैं अपनी आत्मामें आत्मा अर्थात् मनद्वारा तुम्हारे सङ्ग संयोग-विलासका सृजन करता हूँ। केवल सृजन ही नहीं करता, अपितु उसका सम्यक्-रूपसे संवर्धन भी करता हूँ **(संवर्धयामि)**, लीलाको भावनाद्वारा पुष्ट करके उसका भोग करता हूँ। तदनन्तर विलास-समाप्तिपर नव-आस्वादन-हेतु उसका त्याग करके पुनः नवीन संकल्पकी सृष्टि करता हूँ। यदि पूछो कि मनद्वारा विलास-सृष्टि किस प्रकार करते हो? तो सुनो, बताता हूँ। मेरे प्रति तुमलोगोंकी जो असीम कृपा है, उसके प्रभावसे मेरे मन, बुद्धि, गुणसमूह सब तुम्हारे भावसे भावित हो जाया करते हैं। मैं उन भाव-भावित चक्षु-प्रभृति इन्द्रियोंद्वारा तुमलोगोंके रूपका साक्षात्कार करता हूँ। नासिकाद्वारा तुम्हारी अङ्ग-गन्ध मिलती है, त्वचासे तुम्हारे स्पर्शका अनुभव होता है, सर्वदेहसे तुम्हारा आलिङ्गन आदि करके मैं आनन्द-रससमुद्रमें डूबा रहता हूँ। अतएव जिस प्रकार तुमलोग मेरे रूप आदिका निरन्तर अनुभव करती रहती हो, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे रूप आदिका अनुभव करता रहता हूँ **(ध्यानेन प्राप्नोमि)**। जैसे तुमलोगोंके महाभाववासित मन-प्राण मत्तादात्म्यप्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मेरे इन्द्रियवर्ग भी तुम्हारे सङ्ग महाभाव-तादात्म्यप्राप्त हो जाते हैं। अतएव इस बाह्य विरहपर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिये **(किमनया बहिर्योगदुःखमयभावनयेति**—श्रीसनातन)।

गोपियाँ बोलीं—'प्राणवल्लभ! तुम्हारी स्फूर्ति हमें सचमुच ही साक्षात्कार-सदृश ही प्रतीत होती है, किंतु वह सब समय तो होती नहीं। जब हम नेत्र बंद किये रहती हैं, तब स्फूर्ति होती है, किंतु पुनः ज्यों ही नेत्र खोलकर बाहरकी ओर दृष्टि करती हैं, त्यों ही वियोगकी वेदनासे पुनः अवसन्न हो जाती हैं। इस विपद्से रक्षा पानेका भी कोई उपाय है क्या?

इस प्रकारकी जिज्ञासाका श्यामसुन्दर इस प्रकार उत्तर देने लगे—'मैं आविर्भूत होकर जब तुमलोगोंके साथ दर्शन-स्पर्शन-आलिङ्गनादि विलास किया करता हूँ, उस समय तुमलोग मूर्च्छित हो जाती हो। बादमें मूर्च्छाभङ्ग होनेपर जब उत्थित होती हो, तब इस सारी घटनाको स्वप्न मान बैठती हो **(ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः**—श्रीमद्भा० १०।४७।३२)। तुम्हारा जो मन मेरे इस सत्यमिलनको भी स्वप्न मानकर भावना करता है, उसे निरोध कर सकनेसे ही यह विरह-वेदना विदूरित हो सकती है—**(तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि**—श्रीमद्भा० १०।४७।३२)।'

(क्रमशः)

(अनु०—श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल)

'मेरे नाथ! आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी कृपासे दुःखी प्राणियोंके हृदयमें त्यागका बल एवं सुखी प्राणियोंके हृदयमें सेवाका बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःखके बन्धनसे मुक्त हों तथा आपके पवित्र प्रेमका आस्वादन करके कृतकृत्य हो जायँ।'

भागवतीय प्रवचन—२१

सद्गुरु कौन ?

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

सत् यह परमात्माका नाम है। सभीमें जो ईश्वरका दर्शन करे वही सद्गुरु है। अधिकारी शिष्यको सद्गुरु अवश्य मिलता है। प्रथम स्कन्धमें अधिकार-लीलाका वर्णन किया था। परीक्षित् अधिकारी थे, अतः उन्हें शुकदेव मुनि-जैसे सद्गुरु मिले। परीक्षित्में पाँच प्रकारकी शुद्धियाँ है—मातृशुद्धि, पितृशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, अन्नशुद्धि और आत्मशुद्धि। सत्-शिष्यको ही गुरुकृपा मिलती है और ईश्वर-दर्शन प्राप्त होता है।

सद्गुरुतत्त्व और ईश्वरतत्त्व एक है। ईश्वर जिस तरह व्यापक है, उसी तरह गुरु भी व्यापक है। जिसका कहीं भी अभाव न हो, वही व्यापक है। व्यापकको खोजनेकी नहीं, किंतु पहचाननेकी आवश्यकता है। परमात्माकी भाँति गुरु भी व्यापक है, किंतु वह अधिकारीको ही मिलता है।

स्वयं संत बने बिना संतको पहचाना नहीं जा सकता। तुम्हें संत दिखायी नहीं देते; क्योंकि तुम संत नहीं हो। जो संत बने, उसे संत मिले। संत बननेके लिये व्यवहारको अति शुद्ध करना चाहिये। जबतक मुट्ठीभर चनेतककी भी आवश्यकता है, तबतक व्यवहार छूटता नहीं। जो प्रत्येक व्यवहारको भक्तिमय बनाये वही सच्चा वैष्णव है।

संत होनेके लिये मनको सुधारनेकी आवश्यकता है। मनको बदलनेकी आवश्यकता है। जो अपने हृदयका परिवर्तन करता है वही संत बनता है। मन शुद्ध होनेपर संत मिलते हैं। संतसे मिलनेके लिये संत आते हैं, विलासीको संत नहीं मिलते।

गुरुदेव ब्रह्मा हैं। गुरुदेव नया जन्म देते हैं। नया जन्म देनेका अर्थ है कि वे मनको और स्वभावको सुधारते हैं। गुरुदेव विष्णु हैं; क्योंकि वे शिष्यकी रक्षा करते हैं। गुरुदेव शिष्यको मोक्ष भी देते हैं। इसीसे वे शिवजीके भी स्वरूप हैं। गुरु किये बिना न रहो। तुम योग्य होगे तो भगवान्की कृपासे सद्गुरु मिलेंगे ही।

तुकारामजीने अपने अनुभवका वर्णन किया है। कथा-वार्ता सुनते हुए प्रभुके नामसे मेरी प्रीति हो गयी। मैं भी 'विट्ठल-विट्ठल' का सतत जप करने लगा। प्रभुको मुझपर दया आयी। मुझे स्वप्नमें मेरे सद्गुरु मिले, मेरे सद्गुरु मुझे रास्तेमें मिले। मैं गङ्गास्नान करके आ रहा था कि वे रास्तेमें मिले। उन्होंने मुझसे कहा कि विट्ठलनाथकी प्रेरणासे मैं तुझे उपदेश देनेके लिये आया हूँ। मैंने गुरुदेवसे कहा कि मैंने तो भगवान्की कोई सेवा नहीं की है। फिर भी गुरुदेवने मुझपर कृपा की और 'राम-कृष्ण-हरि' का मन्त्र दिया।

गुरुदक्षिणामें उन्होंने पावभर तूप अर्थात् घी माँगा। क्या तुकारामके गुरुको पावभर घी भी नहीं मिलता था; किंतु तुकारामकी वाणी गूढार्थसे भरी हुई है। तूपका अर्थ है तेरापन और मेरापन (अर्थात् अहम्) वह तू मुझे दे दे। आजसे तू भूल जा कि तू पुरुष है। तू अपना पुरुषत्व भूल जा। मेरे गुरुदेवने मेरापन और तेरापन मुझसे माँग लिया। मुझे आज्ञा दी कि तू अपना अभिमान मुझे दे दे। आजसे अहंको मत रखना। तू पुरुष नहीं है, तू स्त्री भी नहीं है। तू किसीका पुत्र भी नहीं है। देहके सारे भाव तू मुझे अर्पण कर दे। तू शुद्ध है, ब्रह्म है, ईश्वरका अंश है। इस प्रकार गुरुदेवने जीवका ईश्वरके साथ सम्बन्ध सिद्ध कर दिया, जोड़ दिया।

जिसकी प्रत्येक क्रिया ज्ञानमय हो वह उत्तम गुरु है। ज्ञानी भक्तोंकी प्रत्येक क्रिया ज्ञान और बोध-रूप होती है। संतोंका सब कुछ अलौकिक होता है। शुकदेवजी मात्र ब्रह्मज्ञानी ही न थे, परंतु उनकी दृष्टि भी ब्रह्मदृष्टि थी। शुकदेवजी प्रत्येकको समभावसे, ब्रह्मभावसे देखते हैं। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। जिसकी दृष्टि ब्रह्ममय हो, उसे जगत्का भास नहीं होता। शुकदेवजी गुरु ही नहीं सद्गुरु भी हैं। शुकदेवजी-जैसी ब्रह्मदृष्टिवाले सुलभ नहीं हैं। वैसे ब्रह्मज्ञानी— ब्रह्मज्ञानकी बातें करनेवाले तो सुलभ हैं। शुकदेवजी-जैसे गुरु मिलें तो सात दिवसमें तो क्या, सात मिनटोंमें भी मुक्ति दिला सकते हैं, किंतु शिष्य

परीक्षित्-जैसा अधिकारी होना चाहिये। गुरु और शिष्य दोनों अधिकारी होने चाहिये।

मन्त्रदीक्षा अधम है, स्पर्शदीक्षा उत्तम है। ब्रह्मभावमें तल्लीन होकर शुकदेवजीने परीक्षित्के सिरपर वरदहस्त रखा कि तुरंत उन्हें ब्रह्मका दर्शन हुआ। प्रथम स्कन्धमें अधिकारीकी कथा बतायी है। भागवतका श्रोता कैसा होना चाहिये, वह बताया गया है। वक्ता कैसा होना चाहिये, वह भी बताया है।

आगे कथा आयेगी कि ध्रुवजीको मार्गमें नारदजी मिले और प्रचेताओंको शिवजी मिले। अधिकारी शिष्यको सद्गुरु मिलते हैं। परीक्षित्के लिये भी शुकदेवजी आये। अन्यथा लाख आमन्त्रण देनेपर भी शुकदेवजीको आँखें उठाकर देखनेतककी फुरसत नहीं है; क्योंकि सच्चा ज्ञानी एक क्षण भी परमात्माके दर्शन किये बिना नहीं रह सकता।

तीन प्रकारके श्रोता-वक्तामें व्यासजीका क्रम दूसरा है; क्योंकि वे समाजसुधारकी दृष्टिसे कथा कहते थे। शुकदेवजी दूसरोंको सुधारनेकी नहीं, अपने अन्तःकरणको सुखी करनेकी वृत्तिसे कथा कहते थे। शुकदेवजीने कथाका आरम्भ तो किया; किंतु मङ्गलाचरण नहीं किया। कारण, देहभान बिलकुल नहीं था। तीन अध्यायोंके बाद शुकदेवजीने मङ्गलाचरण किया।

भागवतमें तीन मङ्गलाचरण हैं। प्रथम व्यासजीका, दूसरा शुकदेवजीका और तीसरा सूतजीका। यौवनमें मङ्गलाचरण, मङ्गल-आचरणकी बहुत आवश्यकता है। इसलिये ही शुकदेवजीका मङ्गलाचरण बारह श्लोकोंका है और अन्य सभीका एक-एक श्लोकका है। उत्तम वक्ता कौन होता है? जो सम्पूर्णतः वैराग्यमय हो। संसारके किसी भी विषयमें मन न जाय, वह वैराग्य है। संसारके विषयोंको देखते हुए भी जिसका मन उनमें नहीं रमता, उसने ही सच्चा वैराग्य सिद्ध किया है। बिना वैराग्यके दृढ़ता नहीं आती। वैराग्यसे ज्ञान शोभित होता है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य परिपूर्ण होनेपर मनुष्य ब्रह्ममय बनता है। शुकदेवजीमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य पूर्ण थे। ज्ञानीका हृदय श्रीकृष्णप्रेममें न पिघले तो वह ज्ञान किस कामका?

राजा परीक्षित् शुकदेवजीसे पूछते हैं कि जिसकी मृत्यु समीप हो, उसका कर्तव्य क्या है? उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये? मनुष्यमात्रका कर्तव्य क्या है?

शुकदेवजीने कहा—राजन्! आपने अच्छा प्रश्न किया है। सुनो! अन्तकालमें वात, पित्त और कफसे त्रिदोष होता है। मृत्युकी वेदना भयंकर होती है। जन्म-मरणके दुःखोंका विचार करेंगे तो पाप नहीं होगा। सो मृत्युसे डरते रहो। उसे स्मरण रखो। विचार करो कि मैंने मृत्युके स्वागतकी तैयारी की है या नहीं। ऐसा चिन्तन करनेसे वैराग्य आता है।

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिके दुःखोंका बार-बार विचार करो तो वैराग्य उत्पन्न होगा और पाप छूटेंगे। अन्यथा पापके संस्कार जल्दी नहीं छूटते। सोचे-समझे बिना विवेक—वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

कालको सिरपर रखकर सदा ईश्वरका चिन्तन करो। कालको स्मरण रखोगे तो पापवृत्तिका उदय नहीं होगा। भजनके लिये अनुकूल समयकी प्रतीक्षा न करो। कोई भी क्षण भजनके लिये अनुकूल है। कोई कष्ट न रहनेपर मैं भजन करूँगा, ऐसा मानना अज्ञान है।

एक मनुष्य स्नान करनेके लिये समुद्रके किनारे गया, किंतु स्नान करनेके बदले वह वहाँ बैठा ही रहा। लोगोंने उससे पूछा कि 'इस तरह क्यों बैठा है? स्नान कब करेगा?' उस मनुष्यने कहा कि 'समुद्रमें एकके बाद एक तरंगें उठ रही हैं। तरंगोंके बंद होनेपर स्नान करूँगा।' क्या समुद्रकी तरंगें कभी रुकती हैं। तरंगें कब रुकेंगी और कब स्नान होगा?

संसार भी एक समुद्र है। उसमें असुविधारूपी तरंगें आती ही रहेंगी। इसलिये यदि कोई कहे कि अनुकूलता होनेपर भगवान्का भजन करूँगा तो वैसी सर्वाङ्गी अनुकूलता तो आयेगी ही नहीं। जिस तरह वह मनुष्य स्नान नहीं कर सका, उसी तरह ऐसे मनुष्य ईश्वर-भजन किये बिना रह जाते हैं।

जीवनमें चाहे कठिनाइयाँ आयें, किंतु इस लक्ष्यको मत भूलना कि मुझे परमात्मासे मिलना है, प्रभुसे मुझे एक होना है। लोभी जिस तरह पैसोंपर लक्ष्य रखता है, उसी तरह महापुरुष परमेश्वरपर लक्ष्य रखते हैं।

भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८।५)

अन्तकालमें जो मेरा स्मरण करता हुआ देहत्याग करता है, वह मुझे पाता है। अन्तकालका अर्थ जीवनका अन्त नहीं; परंतु प्रत्येक क्षणका अन्तकाल है। प्रत्येक क्षण ईश्वरका चिन्तन, ध्यान, स्मरण करना चाहिये। प्रत्येक क्षणको सुधारोगे तो मृत्यु भी सुधरेगी। प्रत्येक क्षणको सुधारनेका अर्थ है हर क्षण ठाकुरजीको अपनी दृष्टिमें रखना।

—(क्रमशः)

आहार-शुद्धि

(श्रीहरिरामजी गर्ग)

सब साधनोंमें प्रथम साधन अन्नकी शुद्धि है। जबतक अन्न शुद्ध न होगा, तबतक कोई साधन हो ही नहीं सकता। अन्न-शुद्धिके बिना साधन किये भी जायँ तो वे फलप्रद नहीं होते। अशुद्ध अन्नके सेवनसे पवित्र पुरुषका मन भी मलिन हो जाता है। इसीलिये ऋषियोंने अन्न-शुद्धिपर बहुत विचार किया है। अन्नकी अशुद्धिमें संतों एवं शास्त्रोंने तीन दोष बतलाये हैं—

१-उपाय-दोष—कपट, झूठ, छल, अन्याय आदिसे द्रव्योपार्जन। व्यापारमें झूठ, छल, विश्वासघात, चोरी, नौकरीमें घूसखोरी, कामचोरी तथा जुआ, डकैती, ठगी, चोरी आदिसे जो धन आता है, वह दूषित है।

२-स्वरूप-दोष—गीतामें वर्णित रजोगुणी एवं तमोगुणी पदार्थ। ऐसे पदार्थ जो शीघ्र न पचें, कब्ज करें, बुद्धिको विकृत करें या वीर्यक्षय करें।

३-क्रिया-दोष—रसोई-स्थानकी तथा बर्तन आदिकी अशुद्धि, रसोई बनानेवालेकी शारीरिक एवं मानसिक अशुद्धि, रसोई बनानेकी विधिमें अशुद्धि, भोजन करनेवालेकी शारीरिक एवं मानसिक अशुद्धि, बलिवैश्वदेव न करना, भगवदर्पण किये बिना भोजन करना, अतिथि, साधु आदिको अन्न न देना, बालक, वृद्ध, गर्भिणी स्त्री, रोगीसे पहले भोजन करना, भोजनमें भेदभाव करना, सेवकों, घरके सदस्योंको स्वादिष्ट पदार्थोंका उचित भाग न छोड़ना, भूखसे अधिक भोजन करना, पङ्क्तिभेद और दृष्टि-दोष आदि।

इनमेंसे प्रत्येक दोषपर पृथक्-पृथक् विचार करना सुविधाजनक है।

उपाय-दोष

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति ५।१०६)

समस्त शौचोंमें अर्थशौच ही प्रधान है। जो पदार्थ उपार्जनमें पवित्र है—न्यायोपार्जित है, वही वस्तुतः पवित्र है। जो अधर्म या अन्यायसे उपार्जित है, वह स्वरूपसे पवित्र होने तथा मिट्टी और जलद्वारा पवित्र किये जानेपर भी पवित्र नहीं है। अतएव अन्नदोषोंमें सर्वप्रथम स्थान उपार्जनकी अपवित्रताका है। जो अन्न न्याय एवं धर्मपूर्वक पैदा नहीं किया गया है, जो अन्याय तथा अधर्मके द्रव्यसे आया है, वह चाहे जितना सात्त्विक हो, शुद्ध रीतिसे बनाया जाय, पर वह हमारी बुद्धिको अवश्य मलिन करेगा।

शास्त्रकारोंने अपने-आप न्यायपूर्वक उपार्जित धनको उत्तम धन माना है। पैतृक सम्पत्तिपर निर्वाह करना मध्यम स्थिति मानी गयी है और माताकी निजी सम्पत्तिसे समर्थ पुत्र जीविका चलाये, यह निकृष्ट स्थिति है। स्त्री-धन—पत्नीके पितृगृहसे प्राप्त सम्पत्ति तो पुरुषके लिये अत्यन्त निन्दित माना गया है। यह समाजका दुर्भाग्य है कि लड़कोंके माता-पिता लड़केके विवाहके अवसरपर और पीछे भी लड़केकी स्त्रीके माता-पिता आदिसे

अधिक-से-अधिक सम्पत्ति लेनेका प्रयास करते हैं। यह धन—'दहेज' में प्राप्त यह सम्पत्ति—सर्वथा निन्दित है। यह स्त्री-धन तो कन्याके माता-पिता आदिकी प्रसन्नतासे जितना आये, उतना ही उचित है और वह भी उस कन्याके पतिकुलके उपयोगमें नहीं आना चाहिये। वह तो स्त्री-धन है और सर्वथा उस स्त्रीके लिये ही सुरक्षित रहना चाहिये।

दानका द्रव्य आपत्तिकालको छोड़कर ब्राह्मणको भी नहीं लेना चाहिये। शूद्र, अन्त्यज, विधर्मी, आचारहीन, अधर्म-परायण, वेश्या तथा राजाका द्रव्य सबके लिये सर्वथा ही त्याज्य है। इनके अतिरिक्त वे सब धन और पदार्थ भी वर्जित हैं, जो न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त न हुए हों। यदि ऐसा कोई पदार्थ, जो न्यायोपार्जित नहीं है या उपर्युक्त लोगोंमेंसे किसीका है, प्राप्त होता है और उस उपहारको अस्वीकार करना उचित नहीं लगता तो उसे लेकर तुरंत किसी अच्छे कार्यमें लगा देना चाहिये। उसे अपने उपयोगमें तो नहीं ही लेना चाहिये।

न्यायपूर्वक अपने श्रमसे जो द्रव्य उपार्जित किया जाय, उसका भी दशांश दान करनेपर जो बचे, वह शुद्ध द्रव्य है और उसीसे प्राप्त अन्न उपाय-दोषहीन शुद्ध अन्न है। उपार्जनके सम्बन्धमें भी प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके लिये शास्त्रने कुछ मर्यादाएँ निश्चित की हैं। उन मर्यादाओंकी रक्षा करते हुए उपार्जन ही धर्मोपार्जन है। अतः उन मर्यादाओंपर भी विचार करना चाहिये।

ब्राह्मणकी आजीविका विद्या पढ़ना-पढ़ाना, दान लेना, यज्ञ कराना आदि कही गयी। ब्राह्मणको मूल्य निश्चित करके अध्यापन नहीं करना चाहिये। उसे कर्तव्यबुद्धिसे ही बिना भेदभावके अध्यापन करना चाहिये। शिष्य तथा उनके अभिभावक श्रद्धापूर्वक जो भी दें, प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेना चाहिये तथा अधिककी माँग नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार दक्षिणा निश्चित करके जप, पाठ, यज्ञ आदि करना भी ब्रह्म-विक्रय कहा गया है और इसे अत्यन्त निन्दित कर्म माना गया है। ब्राह्मणको दान केवल द्विजातिसे लेना चाहिये और उसमें भी राजा, कदाचारी, अधर्मीका या अन्यायोपार्जित द्रव्य नहीं लेना चाहिये। जो दान निष्कामभावसे दाता दे रहा हो, वही उत्तम है। ब्राह्मण-बालकोंको भी जहाँतक सम्भव हो, घरके द्रव्यसे ही अध्ययन करना चाहिये। आजकल प्रायः तामस दान ही प्राप्त होता है। अधर्मी लोग अन्यायोपार्जित द्रव्य किसी कामनासे ही देते हैं। ऐसे द्रव्यसे प्राप्त अन्न बुद्धिको विकृत करता है। फलतः अनेक दोष बालकोंमें आते हैं। यदि ब्राह्मणका काम इनसे न चले तो उसे क्षत्रिय या वैश्यके समान आजीविका करनी चाहिये।

क्षत्रियोंके लिये प्रजाकी रक्षा करना और ब्राह्मणको छोड़कर शेष वर्गसे प्राप्त करपर जीवन-निर्वाहका शास्त्रोंने विधान किया है। पर वर्तमान समयमें ऐसी आजीविका रह ही नहीं गयी। अब तो सेनामें भर्ती होना या फिर वैश्यकी आजीविका—यही बची है। सेनामें आजकलका ढंग केवल नौकरीका है और यह शूद्रवृत्ति है। ब्राह्मण और क्षत्रियको आपत्तिमें भी शूद्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

वैश्योंके लिये व्यापार, खेती और गोपालन आजीविकाके शास्त्रीय साधन हैं। शुद्ध व्यापार वही है जिसमें झूठ, छल, कपट, अन्याय और छिपावसे काम न लिया जाय। व्यापारीको जुआ नहीं खेलना चाहिये और यह स्मरण रखनेकी बात है कि सट्टा भी जुआ ही है। ग्राहक चाहे जो हो, सबको आदरपूर्वक समान भावसे वस्तु देनी चाहिये। न तो कम तौलना या नापना चाहिये और न दूसरे किसी प्रकारसे धोखा देनेका प्रयत्न करना चाहिये। निषिद्ध वस्तुओंका व्यापार नहीं करना चाहिये। इनमें नील, चपड़ा, लाख, सींग, हड्डी, चमड़ा, चर्बी, मादक द्रव्य, अफीम, गाँजा, तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी-शराब आदि तथा हानिकर पदार्थ नकली घी-जैसे द्रव्य तथा वे पदार्थ, जिनमें मांस, अंडे आदि पड़ते हों—जैसे अपवित्र बिस्कुट प्रभृतिका व्यवसाय अच्छा नहीं है। किसी वस्तुमें कोई मिलावट नहीं करनी चाहिये और यदि वस्तुमें कोई दोष हो अथवा किसी प्रकार रखनेसे, पुरानी होनेसे आ गया हो तो उसे ग्राहकको स्पष्ट बता देना चाहिये।

सभी प्रकारके व्यापारोंमें जो छल और ग्राहकको ठगने तथा उससे अधिक-से-अधिक पैसा लेनेकी वृत्ति चल पड़ी है, यह अधर्म है। घी, तेल, अन्न, दूध

आदि पदार्थोंमें दूसरे द्रव्य मिला देना, एक नमूना दिखाकर दूसरा माल दे देना, उचितसे अधिक मूल्य लेना आदि कार्य पाप है। इसी प्रकार अपवित्र वस्तुओंका व्यवसाय और उन्हें दूसरा रूप देना भी पाप है। सबको सचाई, ईमानदारी, शुद्धताका पूरा ध्यान रखकर ही व्यापार करना चाहिये। ऐसा शुद्ध व्यापार निष्कामभावसे किया जाय तो परमार्थका उत्तम साधन हो जाता है।

व्यापारमें जो उत्पादक वर्ग है, उसे विशेष सावधान रहना चाहिये। किसी हानिकर वस्तुका उत्पादन न किया जाय। नकली घी, शराब, सिगरेट, नकली तैल आदिका उत्पादन अधर्म है। ऐसे ही जो पुस्तकोंके प्रकाशक हैं, उन्हें भी गंदे, विकारोत्पादक, धर्मविपरीत साहित्यका (ग्रन्थ और पत्र आदिका) प्रकाशन नहीं करना चाहिये। गंदे चित्रादि सर्वथा ही नहीं छापने चाहिये।

कृषिको व्यापारकी अपेक्षा उत्तम माना गया है, किंतु इसमें भी धर्मपूर्ण व्यवहार ही होना चाहिये। अन्न आदि जो बाजारमें लाया जाय, जैसा हो वैसा ही दिखाया और कहा जाय। उसे गीला न रखा जाय। धोखा देनेका प्रयत्न न किया जाय। पशुओंको पर्याप्त चारा दिया जाय। उनकी पूरी सेवा हो और उनसे क्रूरतापूर्वक काम न लिया जाय। उनकी शक्तिके अनुसार ही उनसे श्रम कराया जाय। अपने पशु दूसरोंके खेतोंमें न चराये जायँ। दूसरोंको किसी प्रकार हानि न पहुँचायी जाय। दूसरोंके खेतसे कुछ न लें। दूसरोंके अधिकारकी खाद, जल आदिका उपयोग न किया जाय। न्याय एवं धर्मपूर्वक ही सब व्यवहार हों। इसके साथ ही नील, लहसुन, प्याज, तम्बाकू आदि अपवित्र एवं हानिकर पदार्थ उत्पन्न न किये जायँ। खेतोंमें गंदी खाद न दी जाय। गोबरकी खाद दी जाय। खेतोंमें ही पशुओं, पक्षियों, बंदरों आदिका भी भाग है। इनके साथ क्रूरता नहीं करनी चाहिये। इन्हें हटानेमें दया और संयमसे काम लेना चाहिये। अन्नको अनुचित लाभ उठानेके लिये जमा नहीं करना चाहिये।

गोपालन वैश्यकी तीसरी आजीविका है। गाय या भैंसको पूरा चारा तब भी मिलना चाहिये जब वह दूध न देती हो। वृद्ध पशुओंकी सेवाका पूरा ध्यान रखा जाय तथा रोगी अपंग पशुओंकी चिकित्सा, सेवा कर्तव्य समझा जाय। पशुओंके बच्चोंको कम-से-कम जबतक वे भली प्रकार दूसरे पदार्थ न खाने लगें, पर्याप्त दूध पीने देना चाहिये। उनका भी भाग दुह लेना तो बहुत नीच कर्म है; फिर फूँका आदि नृशंस उपायोंसे दूध लेनेके महापापकी तो चर्चा ही क्या। पशुओंके बच्चे जब दूसरे तृणादि खाने लगें, तब भी उन्हें कम-से-कम उनकी माताके दूधका कुछ अंश तो मिलना ही चाहिये। उनके चारेकी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये। दूधमें, मक्खनमें, घृतमें जल या दूसरे पदार्थ मिलाकर बेचना सदा नैतिक अपराध है।

इस प्रकार व्यापारमें सर्वत्र सत्य, ईमानदारी और शुद्धताका ध्यान रखने तथा उसका पूर्ण पालन करनेसे जो आय होती है, वही शुद्ध द्रव्य है और उनके द्वारा प्राप्त अन्न ही पवित्र अन्न है।

शूद्रकी आजीविकाका साधन है सेवा। विशुद्ध भावसे उसे पूरी शक्तिसे सेवा करनी चाहिये। सेवा तभी ठीक होगी जब मनमें संतोष हो। अधिक-से-अधिक पानेकी आशा और कम-से-कम श्रम करनेकी इच्छा अपराध है। सेवकको स्वामि-द्रोही अथवा कामचोर कभी नहीं होना चाहिये और स्वामीको सेवकके प्रति अपनी ही संतानके समान स्नेह रखना चाहिये।

जो लोग कहीं भी नौकरी करते हैं, उन्हें अपने अवैधरूपसे नियत वेतनसे अधिक कुछ पानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। घूस लेना तो पाप है ही, कागज, स्याही, लकड़ी, कोयला, टाट, पिन आदि कुछ भी बिना माँगे नहीं लेना चाहिये। आज सभी विभागोंमें घूसखोरी, अनुचित दबावसे लाभ, अधिक मूल्य लेनेकी निन्दित वृत्ति चल पड़ी है। यदि खराब सिक्का पा जायँ तो उसे छलपूर्वक दूसरेको नहीं देना चाहिये। उसे तो फेंक देना ही ठीक है। जब इस प्रकारका नन्हा अपराध भी हमसे न होगा, तभी हम कामचोरी, घूस आदिसे बच सकेंगे।

आज समाजमें स्त्रियोंको नौकरी दिलानेका आन्दोलन चल पड़ा है। स्त्रीद्वारा उपार्जित द्रव्य उसके पति एवं

परिवारकी श्री, पुण्य आदिको क्षय करनेवाला होता है, अतः स्त्रियोंका दूकानपर बैठना, फेरी करना तथा नौकरी करना सर्वथा ही अनुचित है और इसमें दूसरे नैतिक दोष भी बहुत अधिक आ जाते हैं।

कुछ भी हो, सत्यकी कमाई करनी चाहिये। सरकारी कर्मचारी, धर्मगुरु, नेता, शिक्षक, व्यवसायी, कृषक, ग्वाले, सुनार, तेली, बढ़ई, धोबी, चमार, दर्जी आदि सभी वर्गोंमें आज छल, चोरी, झूठ, धोखा देना, खराब या नकली पदार्थ मिलाना आदि अनुचित लाभ उठानेकी प्रवृत्ति वेगसे बढ़ गयी है। यह स्वयं उनके लिये ही हानिकर है। इससे पाप होकर परलोकका नाश तो होता ही है, इस लोकमें भी दुःख ही मिलता है। अन्याय और अधर्मसे आया अन्न बुद्धिको मलिन करता है, मनमें बुराइयाँ आती हैं और मनुष्य असंयमके द्वारा स्वास्थ्य, धन और यश—सबका नाश कर लेता है। अतः सबको न्यायोपार्जित द्रव्यकी ही इच्छा करनी चाहिये।

जहाँ गृहस्थोंके लिये आजीविकाके उपर्युक्त उपाय हैं, वहीं साधुओंके लिये भी शास्त्रोंने उपाय निर्देश किये हैं। साधुके लिये शुद्ध अन्न अत्यन्त आवश्यक है। अपवित्र अन्न उसके मनको दूषित करेगा और इससे उसका पतन सम्भव है। साधुको द्विजातिके घरसे ही भिक्षा करनी चाहिये। शुद्ध, सात्त्विक गृहस्थोंके घरोंसे न्यायोपार्जित अन्नकी भिक्षा पाना आज सरल नहीं है, किंतु जहाँतक सम्भव हो साधुको धर्मात्मा, सात्त्विक गृहस्थोंके घरसे ही भिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। साधुके लिये द्रव्य-संग्रह और भोग-सामग्रियोंका उपयोग पाप है। उसे कलके लिये भी संचय नहीं करना चाहिये। उसे तो भिक्षामें जो प्राप्त हो जाय, उसीपर संतुष्ट होकर भगवच्चिन्तनमें अपना समय लगाना चाहिये।

इस प्रकार सबको अपने वर्णाश्रम धर्म एवं सामाजिक स्थितिके अनुसार उचित रीतिसे, पवित्र व्यवसायद्वारा जो न्यायोपार्जित, धर्मानुसार द्रव्य प्राप्त होता है, वही शुद्ध अन्नका कारण है। उसीसे प्राप्त अन्न उपायतः शुद्ध है।—क्रमशः

नारी ईश्वरकी शक्ति

(डाक्टर ऐनी बेसेंट)

किसी भी राष्ट्रका निर्माण अकेले पुरुषपर नहीं हो सकता। राष्ट्रकी स्त्रियाँ पत्नी-रूपमें अपने पतियोंको साहस प्रदान करती हैं तथा मातृरूपमें भावी संततिको इस प्रकार शिक्षित करती हैं जिससे कि वह स्वतन्त्रता, आत्मसम्मान और आचरणकी उच्चताके लिये किये गये हमारे प्रयत्नोंका अनुगमन कर सके। कोई भी पक्षी एक पाँखसे नहीं उड़ सकता, इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र स्त्री और पुरुष—दोनोंमेंसे केवल किसी एक वर्गके द्वारा उन्नत नहीं हो सकता। हम अभिन्न नहीं हैं, हममें भिन्नताएँ हैं, किंतु ऐसी भिन्नताओंमें, जो एक दूसरेकी विरोधिनी न होकर परस्पर पूरकका काम करती हैं, मानवकी पूर्णता निहित है।

देवीके बिना देव नहीं, उसी प्रकार स्थूल तत्त्वके बिना चेतनातत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता, चेतनातत्त्व स्थूल चेतना देता है तथा स्थूल चेतनाको साकाररूप।

इतना ही नहीं, हिंदू दृष्टिकोणसे ईश्वरकी कर्तृत्व-शक्ति स्त्रीस्वरूपा है। यही कारण है कि प्रत्येक दुःख एवं विपत्तिके समय समाजके समस्त देवता—आदर्श व्यक्ति त्राण पानेके लिये शक्तिको पुकारते हैं और जहाँ पुरुष-वर्ग असफल सिद्ध होता है, वहाँ स्त्रीवर्ग विजय प्राप्त करता है और असत्को दूर भगाकर सत्की पुनःप्रतिष्ठा करता है। जगत्में ईश्वरकी इस शक्तिका प्रतीक नारी है, जिसका पावनतम और मधुरतम नाम 'मा' है।

बालकके लिये आदिगुरुके रूपमें माताकी प्रधानता

(श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')

जीवनमें प्रारम्भसे ही गुरुकी आवश्यकता रहती है। आपका प्रथम गुरु आपकी माँ है। नाना रूपोंमें प्रकट होकर—कभी माता-पिता बनकर, कभी साधु-संत, महात्मा, अवतार बनकर, कभी जीवनमें रस बनकर, कभी चोट बनकर गुरु-शक्ति बच्चेका पथ-प्रदर्शन उसी समयसे करती आ रही है जब आप नन्हे-से थे, बोल भी नहीं पाते थे। वही शक्ति आज भी आपका पथ-प्रदर्शन कर रही है और आगे भी करती रहेगी। आपमें जिज्ञासा जाग्रत् करनेवाला, राह दिखानेवाला, मार्गमें हाथ पकड़कर ले चलनेवाला, आपकी सब कुछ सहकर भी आपको प्यार करनेवाला, अन्ततक सम्बन्ध निभानेवाला और फिर लक्ष्यके रूपमें प्राप्त होनेवाला गुरु है माता। ऐसे गुरुको कौन छोड़ सकता है ?

आप कितने भी उत्कृष्ट विद्वान् हो जायँ, किंतु बचपनमें आपको बैठना नहीं आता था, माँने बैठना सिखाया, उँगली पकड़कर चलना सिखाया। भोजन करना नहीं आता था, माँने बिठाकर मुखमें ग्रास दिया, भोजन करना सिखाया। उस अवस्थामें माँने पालन किया और बड़े-बड़े कष्ट सहे। खेलमें इधर-उधर जाते, तोड़-फोड़ करते, वृक्षोंमें उलझते, बिच्छूको भी पकडनेके लिये दौड़ते, आगमें हाथ डालना चाहते, उस समय माँने रक्षा की। माँने ज्ञान कराया और बड़ी विलक्षणतासे पालन किया।

माँमें मातृत्व-शक्ति है, जिससे आपका पालन हुआ। अतः जितनी अपनी सामर्थ्य हो उसके अनुसार माँ-बापकी सेवा करो। जो नहीं जानते, कृपा करके उन्हें समझाओ कि बड़ोंका आदर करो। जो माँ-बापका आदर नहीं करते, उनका भगवान् भी आदर नहीं करते। कोई उनका विश्वास नहीं करता, क्योंकि जो माँ-बापका नहीं है, वह किसका होगा ? माँ-बापकी सेवा करनेसे भगवान् राजी होते हैं, आज्ञा-पालन करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस कारण सभी भाई-बहनोंको माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। उनकी सेवा करनेसे निर्मम हो जायँगे। जितनी वस्तुओंको सेवामें लगा देंगे, उतनी ममता दूर हो जायगी और जितना परिश्रम करोगे, उतना अपना अहंकार नष्ट हो जायगा। अपनेमें बड़प्पनका अहंकार पतन करनेवाला है। माता-पिताकी सेवा करते-करते अभिमानको सुगमतासे दूर किया जा सकता है। ऐसे ही समान आयुवालोंकी सेवा करो। छोटी अवस्थावाले हैं, उनकी भी सेवा करो। छोटोंका पालन-पोषण करना भी सेवा है। सदाचारकी शिक्षा देना भी सेवा है। बेटा-बेटीको अच्छी शिक्षा दो, जिससे वे अच्छे बन जायँ।

माताएँ चाहें तो संसारका कल्याण कर सकती हैं; क्योंकि बच्चे सबसे पहले माँकी गोदमें आते हैं। माँकी गोदमें खेलते हैं, माँका दूध पीते हैं। माँके स्वभावका असर पड़ता है। महिलाएँ जैसी प्रकृति (स्वभाव) की होंगी, वैसी ही उनकी संतान भी होगी। जैसे बच्चे होंगे वैसा ही वह देश बनेगा। माँ छोटी अवस्थामें जो शिक्षा देती है, वह बड़ा काम करती है; क्योंकि बचपनमें पड़े हुए संस्कार स्थायी होते हैं। भगवान्ने इन्हें मातृ-शक्ति दी है। अतः बच्चोंका सारा भविष्य एवं उनका जीवन-निर्माण मुख्यतया माताके ही हाथमें है।

कोमल वस्तुपर प्रभाव अत्यन्त शीघ्र किंतु स्थायी पड़ता है। छोटे कोमल पौधेको माली जैसे चाहता है, वैसे झुका देता है, कच्चे मिट्टीके बर्तनको कुम्हार अपने इच्छानुसार आकृति दे डालता है। ठीक यही दशा बालकोंकी है। उनकी प्रकृति, उनकी बुद्धि, उनका स्वभाव, मस्तिष्क, हृदय आदि इतने सरल और कोमल होते हैं कि उनपर आप जो संस्कार डालना चाहें, डाल दीजिये, आपको किसी प्रकारका परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। बालकोंका हृदय उस स्वच्छ एवं उज्ज्वल वस्त्रके समान है, जिसपर किसी प्रकारका रंग नहीं चढ़ा है। अतएव इस अवस्थामें बालकोंकी शिक्षा-दीक्षापर ध्यान देना परम आवश्यक है।

विश्वके इतिहासमें आजतक जितने भी महापुरुष हुए हैं, सब माताओंकी देन हैं। माताका हृदय स्नेहमय है।

वह अपने सात्त्विक स्नेहके द्वारा बच्चेके जीवनमें सरसता उत्पन्न करती है; किंतु अच्छी-बुरी सभी वस्तुओंकी एक सीमा है। स्नेह भी जब विवेककी सीमाको लाँघकर आगे बढ़ता है, तब वह घातक हो जाता है। बच्चोंके बिगड़नेमें अधिकतर यही बात होती है।

बालकोंके बिगड़नेका मुख्य कारण यह भी है कि माता-पिताका उन्हें अधिक अनुशासनमें रखना। बड़े पेड़के नीचे छोटा पौधा नहीं पनपता, यदि पनपता भी है तो उस हिसाबसे नहीं, जिस हिसाबसे खुले स्थानमें। बस, बालकोंके लिये भी यही बात है। अधिक अनुशासन जहाँ हुआ, छोटी-छोटी बातपर जहाँ डाँट-फटकार होने लगी, वहीं बच्चेका जीवन मुरझा जाता है, वहीं उसकी विकासोन्मुख प्रतिभा नष्ट हो जाती है। कली खिलनेके पूर्व ही सूख जाती है। परिणाम यह होता है कि बच्चा या तो कायर और कमजोर हो जाता है तथा अपने चरित्र-बलको खो बैठता है या ढीठ हो जाता है और किसीके कहने-सुननेकी कुछ भी परवा नहीं करता। अतएव माता-पिताको चाहिये कि वे बालकको संयममें तो रखें, पर अधिक डाँट-फटकार न दें, बालप्रकृतिकी स्वाभाविकता एवं सरलताको कुचल न डालें। जो बात जिस समय आवश्यक हो, उसी समय प्रेमसे समझाकर, यदि आवश्यक हो तो प्रेमपूर्वक साधारण डाँट-फटकार देकर कह देनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त माताको सर्वत्र अच्छा आचरण करना चाहिये। आचरणकी शक्ति एवं आकर्षण अपार है, जो दूसरोंको स्वतः कर्तव्यकी ओर प्रेरित करती है। फिर बच्चे तो स्वभावसे ही नकल करनेवाले होते हैं। अतएव माता-पिताको अपना जीवन ठीक वैसा ही बनाना चाहिये, जैसा कि वे अपनी संतानको बनाना चाहते हैं। धातुकी मूर्तियाँ बनानेके लिये साँचेकी आवश्यकता होती है। बच्चोंके जीवनको ढालनेके लिये माता-पिताका जीवन ही साँचा है। माता-पिताको याद रखना चाहिये कि बच्चोंको मारकर, उनपर खीझकर उन्हें सदाचारी नहीं बनाया जा सकता; अपितु स्वयं सदाचारी बननेसे ही वे सदाचारी बनेंगे। असंयमशील माता-पिताका यह आशा करना कि उनकी संतान पूर्ण सदाचारी बनेगी, दुराशामात्र है। इसलिये माता-पिताको शरीर, मन और वाणी—तीनोंमें संयम रखना चाहिये एवं सावधानीके साथ सदाचारपरायण रहना चाहिये।

संततिको योग्य बनानेके लिये माताका सुशिक्षित होना परमावश्यक है। प्रायः देखा गया है कि जिस घरमें माता चतुर होती है, उसकी संतान भी बड़ी चतुर एवं गुणवान् होती है। लड़कियोंका जीवन तो पूर्णरूपसे मातापर ही निर्भर है।

इसके अतिरिक्त हमें अपने बच्चोंको व्यावहारिक शिक्षा भी देनी चाहिये, साथ ही उनमें धार्मिक शिक्षाके संस्कार भी उत्पन्न करने चाहिये; क्योंकि बच्चे ही देश, समाज एवं विश्वकी भावी विभूतियाँ हैं, जिन्हें आगे चलकर समाज एवं राष्ट्रकी बागडोर सँभालनी है। वे ही हमारे कर्णधार होंगे, अतः उनके सही मार्ग-दर्शनकी जिम्मेवारी मातापर मुख्यतया निर्भर है।

यही नहीं, मातृ-शक्तिकी प्रधानता एवं महत्ता-महिमाको हमारे आगम एवं मन्त्र-तन्त्र शास्त्रोंने भी एकस्वरसे स्वीकार किया है। वैज्ञानिक दृष्टिसे इसका कारण मातृ-शक्तिमें अन्तर्मनकी बाहुल्यता है। पूर्वकालमें ऋषि-पत्नियोंने भी अपने-अपने सम्प्रदाय चलाये हैं, जिनमें अगस्त्य-पत्नी लोपामुद्राकी भगवती पराम्बा श्रीविद्याका सम्प्रदाय आज भी विद्यमान है, जिसमें अच्छे-अच्छे साधनासिद्ध उपासक हुए हैं। अतः एक अच्छी माता सैकड़ों शिक्षकोंके बराबर है, वह परिजनोंके मनको खींचनेके लिये चुम्बक पत्थर तथा उनकी आँखोंके लिये ध्रुवतारा है।

'मेरे नाथ ! आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतितपावनी, अहैतुकी कृपासे मानवमात्रको विवेकका आदर तथा बलका सदुपयोग करनेकी सामर्थ्य प्रदान करें एवं करुणासागर ! अपनी अपार करुणासे शीघ्र ही राग-द्वेषका नाश करें, जिससे सभीका जीवन सेवा, त्याग, प्रेमसे परिपूर्ण हो जाय।'

दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं

(डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

महाराज दशरथ रामचरितमानसके एक आदर्श पात्र हैं। वे श्रीरामके पिताश्री हैं—यह उनकी श्रेष्ठताका आधार नहीं, वे तो अपने गुणोंके कारण श्रद्धास्पद बने हैं। उनके चरित्राकाशमें अनेक गुण नक्षत्रोंकी भाँति जाज्वल्यमान हैं। महाराज दशरथका चरित्र अनेक मानवीय मूल्योंसे अनुस्यूत था। उनमें कर्तव्य और प्रेमका मणिकाञ्चन-संयोग था। उन्होंने राजा, पिता, पतिके रूपमें जो कार्य किये, उनसे उनकी प्रतिष्ठामें चार चाँद लग गया। उन्होंने कुलमर्यादाको अक्षुण्ण ही नहीं रखा, अपितु उसे उच्चताकी पराकाष्ठातक पहुँचाया। भरद्वाज मुनिके मतानुसार राजा दशरथ विश्वके अद्वितीय पुरुष हैं, उनके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता। आइये, उनके कुछ गुणोंका अवलोकन करें।

राक्षसोंके आतङ्कसे महर्षि विश्वामित्रका तपोवन जब बाधित होने लगा, तब उसे निरापद करनेके लिये वे राजा दशरथके पास आये और उत्पात-निवारणके लिये उन्होंने उनके पुत्र श्रीराम और लक्ष्मणकी याचना की। उस समय महाराज दशरथके हृदयमें राजधर्म और पुत्र-प्रेमका द्वन्द्व होने लगा। *'राम देत नहिं बनइ गोसाँई'* कहकर पहले तो उन्होंने उनकी इच्छा-तुष्टिमें असमर्थता व्यक्त की; किंतु गुरु वसिष्ठके उपदेशसे उन्हें कर्तव्यका बोध हुआ और अपने अपत्य-स्नेहको नियन्त्रित करते हुए उन्होंने राजधर्मका परिपालन किया। तब उन्होंने दोनों पुत्रोंको महर्षि विश्वामित्रके साथ जानेकी सहर्ष अनुमति दे दी।

महाराज दशरथ सुव्यवस्थित साम्राज्यके शासक थे। उनके शासन-कालमें किंचिन्मात्र भी अराजकताकी स्थिति नहीं आयी। उनकी सुचारु व्यवस्थाके कारण ही उनके न रहनेपर भी राजत्व व्याप्त रहा। उनकी मृत्युके पूर्व श्रीराम अरण्यवासी हो गये थे और इधर भरत वीतराग हो गये। फिर भी राज्य-संचालनमें कहीं व्यतिक्रम उपस्थित नहीं हुआ। यह उनके राजधर्मकी उत्तमताका परिचायक था।

दानवीरता प्रत्येक राजाका एक अपरिहार्य गुण माना जाता है। श्रीरामके विवाहके प्रसंगमें याचकोंको तुष्ट कर राजा दशरथने इस गुणका परिचय दिया। लोक-रुचिरक्षण उत्तम राजाका विचक्षण गुण है, जिसका दर्शन हमें राजा दशरथके चरित्रमें होता है। गुरु-विप्रके प्रति वे निरन्तर श्रद्धामण्डित पूज्य-भाव अर्पित करते थे। उनके प्रत्येक कार्यका सम्पादन गुरु वसिष्ठके परामर्शानुकूल होता था। राजा दशरथके त्रिकालव्यापी यशका वर्णन भरतके समक्ष गुरु वसिष्ठने अपने श्रीमुखसे किया था—

सोचनीय नहिं कोसलराऊ । भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा । भूप भरत जस पिता तुम्हारा ॥

(मानस २।१७३।५-६)

पितृधर्मका पालन करना राजा दशरथके चरित्रका अप्रतिम गुण था। पिताके हृदयमें अपने पुत्रके प्रति अगाध ममत्व रहता है। राजा दशरथमें यह ममत्व अपनी चरम सीमापर था। यों तो उनके हृदयमें सभी पुत्रोंके प्रति वात्सल्य था; किंतु उनमें श्रीराम सर्वाधिक प्रिय थे। फिर श्रीराम और भरतमें उन्होंने कभी भी भेद-भाव स्वीकार नहीं किया। राजा दशरथके जीवनके लिये यह बड़ी विडम्बना थी कि ऐसा प्रगाढ़ प्रेम वचन-पालनकी पारम्परिक कर्तव्यनिष्ठासे टकरा गया। ऐसी परिस्थितिमें राजा दशरथने श्रीरामका परित्याग तो कर दिया, किंतु इसके लिये उन्हें प्राण विसर्जित करना पड़ा। तृणवत् प्राण-विसर्जन कर उन्होंने पुत्रके प्रति सत्य प्रेमका परिचय दिया। इसीलिये कविकी वाणीमें वे वन्दनीय हैं—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद ।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥

(मानस १।१६)

शरीरको त्याग कर श्रीराम-प्रेमको चरितार्थ करनेवाले राजा दशरथने श्रीरामको अरण्यवास देकर कुलधर्मका परिपालन किया और वचनको प्राणसे अधिक महत्त्व दिया। पूर्वजोंकी महिमाको अक्षुण्णता प्रदान करनेवाले राजा दशरथका चरित्र सचमुच श्लाघनीय था। उनके प्रेम और धर्म-निर्वाहकी प्रशंसा गुरु वसिष्ठ, महाराज जनक, श्रीराम आदि पात्रोंने की है।

चरित्रकी जिस दुर्बलतासे मानवताका स्खलन होता है, उसीकी अनुतापानुभूतिसे उसका परिष्कार भी होता है। स्त्रीके वशीभूत होनेके कारण जो दारुण काण्ड घटित हुआ था, उसका पश्चात्ताप राजा दशरथको मृत्युकालमें हुआ। उसी समय उन्हें अन्धतापसके शापका भी स्मरण हुआ। फलतः अनुतापकी अग्निमें उनके कुकृत्य भस्मीभूत हो गये और मानवताकी हेमाभा दमक उठी। उनके शीलाचारका एक और स्थल अवलोकनीय है। अपने अपराधके बदले उनका हृदय दण्ड प्राप्त करनेके लिये आतुर था, किंतु परमात्माकी विचित्र और अज्ञेय गतिको देखकर उन्हें क्षुब्ध होना पड़ा था—

औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जाने जोगु॥

(मानस २।७७)

महाराज दशरथकी यह वैचारिक चारुता मानवतावादसे वेष्टित है।

आयुर्वेदका त्रिदोष-सिद्धान्त

(राजवैद्य श्रीरसिकलालजी पारीख)

'त्रिदोष'का अर्थ है वात, पित्त और कफ। इन्हीं तीन तत्त्वोंपर सारी आयुर्वेदिक चिकित्सा अधिष्ठित है। उन दिनों रोग भी आजकी भाँति नित्य नये पैदा नहीं होते थे; प्रत्युत वे सीमित थे। सामान्यतः समग्र मानवजाति सुखी पायी जाती थी। रोगका मूल कारण मिथ्या आहार और विहार माना जाता था। सर्वसाधारण मानव विवेकपूर्वक इससे बचता था, जिससे उसपर रोगका आक्रमण बहुत कम होता था। समग्र वैद्यक-विज्ञान-चिकित्साशास्त्र इसी त्रिदोष-सिद्धान्तपर चलता रहा। भारतका यह सुविचारित त्रिदोष-सिद्धान्त सर्वप्रथम यहाँसे ईरान पहुँचा, ईरानसे अरब और वहाँसे मिस्रदेश गया। सम्राट् सिकन्दर भी लौटते समय अपने साथ यहाँके वैद्योंको लेता गया। इस प्रकार सुदूर अतीतमें सारी चिकित्सा-व्यवस्था त्रिदोष-सिद्धान्तपर ही चलती रही।

समय बदला और यहाँ मुसलमानोंका साम्राज्य चला, जिसके अभिशापस्वरूप यहाँकी असंख्य बहुमूल्य पुस्तकें जला दी गयीं, जिनमें आयुर्वेदके भी अनेक ग्रन्थ-रत्न रहे। फिर भी उस भीषण कालमें भी चिकित्सा-व्यवस्था त्रिदोष-सिद्धान्तको छोड़कर कभी नहीं रही। वात, पित्त और कफके रक्तको भी जोड़कर इसके मौलिक तत्त्व सफरा, बलगम और खून ही माने जाते रहे। अर्थात् त्रिदोष-सिद्धान्तानुसारी चिकित्सा-व्यवस्था नाम-शेष नहीं हो पायी।

उन दिनों वायुका प्रकोप होनेपर अजवाइन पीस-छौंककर पिला दी जाती थी। कफका प्रकोप होनेपर थोड़ेसे दूधमें हल्दी मिलाकर छौंककर पिलायी जाती और पित्तका प्रकोप होनेपर धान्यपञ्चकका काढ़ा पिलाया जाता या मिश्री खिलायी जाती थी। लोग मलेरियामें सुदर्शनचूर्णकी फंकी लगवाते और पित्तका शमन करवाते थे। चिरायता और हरड़का क्वाथ दिया जाता था। सनायकी फंकी फँकवायी जाती थी। आँखोंके लिये त्रिफलाका उपयोग किया जाता था। सोंठ तो नित्यकी घरेलू दवा ही बन गयी थी। पिपरामूलका भी प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार घरेलू उपचारोंसे ही वात, पित्त, कफको संतुलित और समान स्थितिमें बनाये रखा जाता था। भाव यह कि इन त्रिदोषोंका वैषम्य ही समस्त रोगोंकी जड़ है। तत्कालीन वैद्योंको ही नहीं, अनेक घरोंके अनुभवी बड़े-बूढ़ों और वृद्धाओंको इन मौलिक तत्त्वोंका—त्रिदोषका अच्छा ज्ञान रहता था।

किंबहुना, सन् १९२० तक यही स्थिति बनी रही। उस सन्में जब प्लेगका राष्ट्रव्यापी आक्रमण हुआ, तब भी त्रिदोषवादका ही बोलबाला था। उसे 'संनिपात' या 'त्रिदोषकी गाँठ' कहा जाता था। लेखकके गुरुदेवने ही एक रोगीको २१ दिनोंका लङ्घन (उपवास) करवाकर

वह गाँठ मिटवा दी थी। चर्म-रोग होनेपर लोग कहते कि 'रक्त दूषित हो गया है। पित्त वायु हो गया है या वातका प्रकोप है।'

किंतु जैसे-जैसे तथाकथित नवीन विज्ञान बढ़ने लगा, इस त्रिदोष-सिद्धान्तकी हँसी भी उसी अनुपातमें उड़ायी जाने लगी। त्रिदोषका परिहास करते हुए कहा जाने लगा कि वायु तो 'गैस' है। पित्तको बाईल और कफको आवँ या बलगम कहकर हँसी उड़ायी जाने लगी। त्रिदोषके स्थानपर 'बेक्टिरिया'-वाद प्रारम्भ हो गया और चिकित्सा भी जादूकी छड़ी बन गयी। सन् १९३५के पश्चात् तो उत्तरोत्तर इस नवीन विज्ञानका प्रभाव अधिकाधिक बढ़ने लगा। लोग 'लङ्घन' या उपवासको, जिसे प्रभावकारी रसायन या मात्रा माना जाता था, भूल गये और 'कर्षण' चिकित्साके स्थानपर 'तर्पण' चिकित्साकी नींव सुदृढ़ हो गयी। कहा जाने लगा कि शरीरमें शक्ति रहनेपर ही तो रोगको मिटाया जा सकता है? खानेको न दिया जायगा तो बेचारा रोगी बेमौत मर जायगा। इस तरहके और ऐसे ही अन्य कुतर्क भी प्रस्तुत कर 'कर्षण'के स्थानपर 'तर्पण'-चिकित्सा चलाते हुए इस नवीन विज्ञानद्वारा 'त्रिदोषवाद'को खड्डमें ढकेल दिया गया।

अब तो ओषधियाँ विदेशसे बनकर आने लगी हैं। **'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्'**—'रोगी जिस देशका हो, औषध भी उसी देशकी उसके लिये हितकारी होती है'—यह सूत्र भी भुला दिया गया। अंधाधुंध जंगल काटे जाने लगे और यहाँकी अनेक रोग-निवारक ओषधियाँ और वनस्पतियाँ मिट्टीमें मिला दी गयीं।

फिर भी ध्यान देनेकी बात है कि जैसे मानवकी छाया उससे अलग नहीं की जा सकती, वैसे ही 'त्रिदोषवाद' भी मानवसे कभी दूर नहीं किया जा सकता। ताने-बानेकी भाँति वह मानवीय जीवनसे पूर्णरूपसे जुड़ा हुआ—समवेत है। देखिये, पञ्चतत्त्वोंके बीच पृथ्वीतत्त्वको हम भलीभाँति पहचानते हैं। आकाशने अवकाश-स्थान घेर रखा है और वह पोला है। शेष जल-ही-जल है। कफ तेज या अग्नि है, पित्त और वायु तो वायुरूपमें ही है। जब ये तीनों दोष साम्यावस्थामें रहते हैं, तभी शरीरकी यह मशीनरी स्वाभाविकरूपमें चलती है, किंतु जब ये तीनों दोष विषमावस्थामें हो जाते हैं, तब इस मशीनके चलनेमें अवरोध आ जाता है। मुख्यतः इस शरीर-मशीनको चलानेवाला तत्त्व है अग्नि या पित्त। यह अग्नि दो प्रकारकी है—एक धातु-अग्नि और दूसरी जठराग्नि, जो पेटके भीतर रहती है। यही जठराग्नि मानवद्वारा खाये हुए पदार्थोंका पक्व रस बनाकर शरीरको गतिशील बनाती है। यह अग्नि जलाकर राख न कर डाले, इसके लिये उसके शमनार्थ कफ (जल) तत्त्व है और पित्त प्रवाही है, उष्ण द्रवरूप और पीले वर्णका। यह मानवमें सत्त्वगुणका उदय करता है। आप नितान्त श्वेत दूध पी लीजिये, परंतु उसमें पित्तके मिल जानेपर दस्त पीले ही होंगे।

मानव जब मिथ्या आहार और विहार करने लगता है, तब इन तीनोंमें न्यूनाधिकता आनेसे उनकी साम्यावस्था नष्ट हो जाती है, जो उनका 'प्रकोप' कहलाता है। 'प्रकोप'का स्पष्ट रूप एक उदाहरणसे समझाया जा सकता है। मान लीजिये, एक तपेलीमें एक सेर दूध हो और उसे आगपर गरम करनेके लिये रख दें, उसमें उफान आयेगी, दूध अपना स्थान त्याग देगा। इस क्रियासे दूध कुछ बढ़ता नहीं, फिर भी उसने अपना स्थान छोड़ दिया। यही प्रकोप है, जिसका मूलस्थान पेडू है। वह वायु यदि वहाँसे ऊपर चढ़ जाय तो उसे 'वायुका प्रकोप' कहा जायगा। इसी प्रकार पित्त अपना स्थान छोड़ दे और वायुद्वारा सुखायी गयी शिराओं एवं धमनियोंको कठोर बनाकर ऊपर चढ़ जाय और रक्तचाप करे तो उसे 'पित्तका प्रकोप' कहा जायगा। इसी तरह कफ जठर (पेट) में जाकर जठराग्निको ढक दे और खुराक (खाया हुआ अन्न) वहीं अलसायेकी भाँति पड़ा रहे तो वह 'कफका प्रकोप' माना जायगा।

पहले लोग प्रातःकाल खाली पेट दातून करके दाँत

साफ करते और फिर दातूनको चीरकर उससे जीभ रगड़कर सारा दूषित कफ बाहर निकाल डालते थे। नित्य प्रातः खाली पेट हरड़का चूर्ण फाँककर गरम-गरम पित्तको दस्तके मार्गसे निकाल डालते थे। इसी तरह बस्ति (एनिमा) लेकर दूषित वायुको निकाल डालते थे। इन दैनिक क्रियाओंसे प्रातःकाल ही शरीरकी चिन्ताएँ दूर हो जाती थीं। त्रिदोषवादके अनुसार जबतक चिकित्सा-व्यवस्था चलती रही, तबतक मानव सुखी और दीर्घजीवी होते थे और अन्ततः उनका मोक्षमार्ग भी निरापद् हो जाता था, किंतु जबसे 'तन्तुवाद' आया और उन्हें मारनेकी ओषधियाँ खोजी जाने लगीं, तभीसे अनिवार्यतः उसके दुष्प्रभाव और उपद्रव भी असीमरूपमें बढ़ने लगे हैं।

वायुका प्रकोप और शमन—प्राकृतिक वेगोंका रोकथाम, अधिक मात्रामें भोजन और जागरण, अधिक श्रम, जोर देकर बोलना, लगातार गाड़ी-घोड़ा और रेल-जहाजपर यात्रा, कड़वे, तीखे और रूखे पदार्थोंका निरन्तर सेवन, चिन्ता, अधिक स्त्रीसङ्ग, भय, अधिक उपवास, शोक आदिके कारण वायु सदैव अपना स्थान त्याग देता है। उसे पुनः अपने स्थानपर लानेके लिये उष्ण, स्थिर, वृष्य, बल्य, लवणयुक्त, स्वादु और अम्ल पदार्थोंका सेवन, तैलमर्दन, धूप-ग्रहण, गरम जलसे स्नान, अभ्यङ्ग, बस्ति, आसवसेवन, देहमर्दन, स्नेहन, स्वेद-निष्कासन, नस्य, विश्राम, सेक आदि क्रियाएँ करनी चाहिये। उससे विकृत वायुका शमन होकर वह अपने नियत स्थानपर लौट आता है।

पित्तका प्रकोप और शमन—तीखे, खट्टे, विशेष लवणयुक्त, उष्ण, विदाही और तीक्ष्ण पदार्थ तथा मद्यका सेवन, सूखे शाकका खाना, क्रोध, ताप, अग्नि, भय, श्रम, विषम भोजन आदिसे पित्त अपना स्थान छोड़ देता है। उसे पुनः अपने स्थानपर लानेके लिये कड़वे, मीठे, कसैले, शीतल पदार्थोंका भोजन, पवन, छाया, जल, चाँदनी (तहखाना), फुहारा, कमल आदि शीतकर वस्तुओंका सेवन, घी-दूधका सेवन, विरेचन, सूखी आदी (सोंठ)के लेप आदिसे पित्त पुनः अपने स्थानपर आ जाता और उसका शमन हो जाता है। आज भी पित्तके शमनके लिये अनेक प्रकारके लेप किये जाते हैं। साठी चावल, बथुआ (शाक), मूँग और दूध पित्तके प्रमुख रूपसे शामक माने जाते हैं।

कफका प्रकोप और शमन—मधुर, ठंडे, भारी, खट्टे, पिच्छिल, स्निग्ध, दूधके बने पदार्थ और ईखका रस सेवन करने, अतितृप्ति, अधिक मीठा खाने, अधिक पानी पीने आदिसे कफकी वृद्धि होती है और वह अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। परिणामस्वरूप छाती भारी हो जाती है, शरीर श्वेत हो जाता है, खुजली होने लगती है, सदैव आलस छाया रहता है। कफको पुनः अपने निश्चित स्थानपर लानेके लिये रूक्ष भोजन, क्षारका सेवन, कषाय, तिक्त, कटु पदार्थ खाना, व्यायाम, उलटी, गमन (चलना), युद्ध, जागरण, नदीमें तैरना, ताप, विरेचन, स्वेद लाना आदि क्रियाएँ करनी चाहिये। पानीमें तैरनेसे शरीरमें जो श्रमजन्य ऊष्मा आती है वह बाहरका ठंडा पानी होनेसे कफको सुखा देती है।

जबतक आयुर्वेदका त्रिदोष-सिद्धान्त चिकित्सामें चलता रहा, तबतक दोषोंका प्रकोप होनेपर उनके शमनपर ही सर्वाधिक ध्यान दिया जाता था। जैसे विकृत कफको वमन करवाकर निकाल दिया जाता था, दूषित पित्तको विरेचन करवाकर निकलवा देते थे और प्रकुपित वायुको बस्तिद्वारा शुद्ध करवा दिया जाता था। इस चिकित्सामें रोग या दोषको दबा देनेकी बात ही नहीं की जाती थी, जब कि आजके डाक्टर 'कुनैन'से दूषित पित्तको दबा देते हैं।—क्रमशः

मेरा बस चले तो मैं अपने निन्दकोंको अत्यधिक पुरस्कार दूँ। कारण, उनकी निन्दा और द्वेषसे तो मेरा हितसाधन ही होता है।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें श्रीकृष्णकी भगवत्ता

शास्त्रमें भगवत्ताके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

(विष्णुपुराण ६।५।७८)

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पत्ति-प्रलय एवं आवागमनको और विद्या-अविद्याको जानता है, उसका नाम भगवान् है।'

गीताको देखनेसे पता चलता है कि भगवत्ताके ये सभी लक्षण भगवान् श्रीकृष्णमें विद्यमान हैं, जैसे—

भगवान् गीतामें कहते हैं—महासर्गके आदिमें मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति करता हूँ और महाप्रलयके समय सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं (९।७-८)। ब्रह्माजीके दिनके आरम्भमें (सर्गके आदिमें) सम्पूर्ण प्राणी ब्रह्माजीके सूक्ष्म-शरीरसे पैदा हो जाते हैं और ब्रह्माजीकी रातके आरम्भमें (प्रलयके समय) सम्पूर्ण प्राणी ब्रह्माजीके सूक्ष्म-शरीरमें लीन हो जाते हैं (८।१८-१९)। इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पत्ति-प्रलयको जानते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मैं भूतकाल, वर्तमान और भविष्यके सभी प्राणियोंको अर्थात् उनकी गतियोंको जानता हूँ (७।२६)। जो स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे यज्ञ, दान आदि शुभकर्म करके स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं, वे उन लोकोंमें अपने पुण्योंका फल भोगकर पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं (९।२०-२१)। शुक्ल और कृष्ण—ये दो गतियाँ (मार्ग) हैं। इनमेंसे शुक्ल-गतिसे गया हुआ प्राणी लौटकर नहीं आता और कृष्ण-गतिसे गया हुआ प्राणी लौटकर आता है (८।२५)। आसुर स्वभाववाले प्राणी बार-बार आसुरी योनियोंमें जाते हैं और फिर वे उससे भी अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं (१६।१९-२०)। इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राणियोंके आवागमनको जानते हैं।

अर्जुन भगवान्से कहते हैं कि गतियोंके विषयमें आपके सिवाय दूसरा कोई नहीं बता सकता, आप ही मेरे गतिविषयक संदेहको मिटा सकते हैं (६।३९)। अर्जुनके इस कथनसे भी सिद्ध होता है कि प्राणियोंकी गतियोंको, आवागमनको भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णतया जानते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं तथा मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें नहीं हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मुझमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ (९।४-५)। यह विद्या (राजविद्या) है। आसुर-भाववाले मूढ मनुष्य मेरी शरण नहीं होते (७।१५)—यह अविद्या है। इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण विद्या और अविद्याको जानते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पत्ति-प्रलय, आवागमन और विद्या-अविद्याको जाननेके कारण श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं—यह सिद्ध होता है।

मनुष्य अच्छे कर्म करके, साधन करके ऊँची स्थितिको प्राप्त हो जाता है तो लोग उसे महापुरुष कहने लग जाते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण भी एक महापुरुष थे, उनका यह मानना बिलकुल गलत है। भगवान् श्रीकृष्ण अवतार थे। जो साधन करके ऊँचा उठता है, उसका नाम 'उत्तार' है, अवतार नहीं। अवतार नाम उसका है, जो अपनी स्थितिमें स्थित रहते हुए ही किसी विशेष कार्यको करनेके लिये नीचे उतरता है अर्थात् मनुष्य आदिके रूपमें प्रकट होता है। जैसे कोई आचार्य किसी बच्चेको वर्णमाला सिखाता है तो वह 'अ, आ, इ, ई' आदि स्वरोंका और 'क, ख, ग, घ' आदि व्यञ्जनोंका स्वयं उच्चारण करता है और उस बच्चेसे भी उनका उच्चारण करवाता है तथा उसका हाथ पकड़कर उससे लिखवाता है। इस प्रकार उस बच्चेको वर्णमाला सिखानेके लिये स्वयं भी बार-बार वर्णमालाका उच्चारण करना और उसे लिखना—यह उस आचार्यका बच्चेकी श्रेणीमें अवतार लेना है, उसकी श्रेणीमें आना है। बच्चेकी श्रेणीमें आनेपर भी उसकी विद्वत्ता वैसी-की-वैसी ही बनी रहती है। ऐसे ही संतोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये भगवान् अज (अजन्मा)

रहते हुए ही जन्म लेते हैं, अविनाशी रहते हुए ही अन्तर्धान हो जाते हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर (मालिक) रहते हुए ही माता-पिताके आज्ञापालक बन जाते हैं (४।६—८)। अवतार लेनेपर भी उनके अज, अविनाशी और ईश्वरपनेमें कुछ भी कमी नहीं आती, वे ज्यों-के-त्यों ही बने रहते हैं।

जो लोग यह मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण एक योगी थे, भगवान् नहीं थे, उनका यह मानना बिलकुल गलत है। योगी वही होता है, जिसमें योग होता है। योगके आठ अङ्ग हैं, जिनमें सबसे पहले 'यम' आता है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अतः जो योगी होगा, वह सत्य ही बोलेगा। यदि वह असत्य बोलता है तो वह योगी नहीं हो सकता; क्योंकि उसने योगके पहले अङ्ग (यम) का भी पालन नहीं किया। अतः भगवान् श्रीकृष्णको योगी माननेसे उन्हें भगवान् भी मानना ही पड़ेगा; क्योंकि गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने जगह-जगह अपने-आपको भगवान् कहा है, जैसे—

मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए ही अवतार लेता हूँ (४।६)। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें अच्छी तरहसे स्थित हूँ (१५।१५)। जो लोग अपनेमें और दूसरोंके शरीरोंमें स्थित मुझ अन्तर्यामी ईश्वरके साथ द्वेष करते हैं, उन्हें मैं आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ (१६।१८-१९)। जो अश्रद्धालु मनुष्य दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति, हठसे युक्त होकर शास्त्रविधिसे रहित घोर तप करते हैं, वे अपने पाञ्चभौतिक शरीरको तथा अन्तःकरणमें स्थित मुझ ईश्वरको भी कष्ट देते हैं (१७।५-६)।

अन्वय-व्यतिरेकसे भी अपने ईश्वरपनेका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा है कि जो मुझे सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर मानते हैं, वे शान्तिको प्राप्त होते हैं (५।२९) तथा जो मुझे अज, अविनाशी और महान् ईश्वर मानते हैं, वे मोहसे एवं सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं (१०।३), परंतु जो मेरे ईश्वरभावको न जानते हुए मुझे मनुष्य मानकर मेरी अवहेलना करते हैं, वे मूढ़ (मूर्ख) हैं (९।११)। जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता तथा सम्पूर्ण संसारका मालिक नहीं मानते, उनका पतन हो जाता है (९।२४)।

जिस ज्ञेय-तत्त्वको जाननेसे अमरताकी प्राप्ति होती है (१३।१२), वह ज्ञेय-तत्त्व मैं ही हूँ; क्योंकि सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य तत्त्व मैं ही हूँ (१५।१५)। मैं सम्पूर्ण जगत्को पैदा करनेवाला हूँ। मेरे सिवाय इस जगत्की रचना करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। मैं ही सम्पूर्ण जगत्में ओतप्रोत हूँ (७।६-७)। सात्त्विक, राजस और तामस भाव (क्रिया, पदार्थ आदि) मुझसे ही उत्पन्न होते हैं (७।१२)। प्राणियोंके बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि भाव मुझसे ही पैदा होते हैं (१०।४-५)। चर-अचर, स्थावर-जङ्गम आदि कोई भी वस्तु, प्राणी मुझसे रहित नहीं है (१०।३९)। सम्पूर्ण जगत् मेरे किसी एक अंशमें स्थित है (१०।४२)।

मैं ही अपनी प्रकृतिको वशमें करके संसारकी रचना करता हूँ (९।८) अथवा मेरी अध्यक्षतामें अर्थात् मुझसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्रकृति संसारकी रचना करती है (९।१०)।

दसवें अध्यायमें बीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक कही हुई विभूतियोंमें भगवान्ने अपने-आपको बताया है। फिर ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर अपना अव्यय, अविनाशी, दिव्य विराट्रूप दिखाया है। जब अत्युग्र विराट्रूपको देखकर अर्जुन भयभीत हो गये, तब भगवान्ने अपना चतुर्भुजरूप दिखाकर उन्हें सान्त्वना दी और फिर वे द्विभुजरूप हो गये, आदि-आदि। तात्पर्य यह है कि यदि श्रीकृष्ण योगी हैं तो वे सत्य बोलते हैं और यदि सत्य बोलते हैं तो वे ईश्वर हैं; क्योंकि स्वयं श्रीकृष्णने अपनेको ईश्वर कहा है। अतः जो श्रीकृष्णको योगी मानते हैं, उन्हें 'श्रीकृष्ण ईश्वर हैं'—यह मानना ही पड़ेगा।

मुनि—सच्चा साधक वही है, जिसे ईश्वरके विचारके सिवा दूसरी बात प्रिय लगती ही नहीं।

गाय बचेगी तो देश बचेगा

[गाय बचेगी तभी देश बचेगा । भारतकी पवित्र भूमिमें प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें गो-वंशका कटना इस देशके लिये तथा यहाँकी जनताके लिये एक महान् कलङ्क है । कुछ लोग इसे राष्ट्रिय-पशुकी संज्ञा देते हैं । पर वास्तवमें यह भारतवासियोंके जीवनका एक अङ्ग है, साथ ही उनकी प्रगाढ़ श्रद्धाका केन्द्रबिन्दु भी । कृषिके क्षेत्रमें गाय परम सहायक होती है तथा संस्कृतिकी रक्षा इसके बिना हो नहीं सकती । इसीलिये ऋषि-महर्षियोंने इसे 'माता' शब्दसे सम्बोधित किया है । पर काश ! यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि मांस और चमड़ेके व्यापारको बढ़ानेके लिये तथा विदेशोंमें इसका निर्यात करनेकी दृष्टिसे गोहत्याको रोकनेकी अपेक्षा इसे बढ़ावा दिया जा रहा है । राष्ट्रकी शक्ति वहाँकी जनतामें निहित होती है । अतः आज ही हमें संकल्पबद्ध होना चाहिये कि ऋषि-महर्षियोंकी इस पावनभूमिपर हम गोरक्त कदापि नहीं गिरने देंगे । प्रस्तुत लेखमें इसका विशद विवेचन पढ़ें ।—सम्पादक]

भारतीय ग्रामीण अर्थरचना कृषिपर आधारित है । कृषि गोवंशपर अवलम्बित है । भारतका प्रमुख व्यवसाय कृषि है । सत्तर प्रतिशत जनता उसीपर अवलम्बित है । बिना बैलके भारतका छोटा किसान अपनी खेती नहीं कर सकता । जिस वर्ष खेतीमें बाढ़ या सूखेके कारण फसल नहीं होती, उस वर्ष भारतकी आर्थिक स्थिति चरमराने लगती है । इस महत्त्वपूर्ण व्यवसायकी चालकशक्ति बैल है ।

बैल गायसे मिलता है । भारतीय संस्कृतिने मनुष्येतर प्राणियोंमेंसे गायको अपने व्यापक परिवारका अङ्ग मानकर उसे माता कहा है । गोमाताको अवध्य माना है । उसकी पूजा की जाती है ।

गोवंशसे खेतीके लिये बैल मिलते हैं । माँके दूधके अतिरिक्त सुपाच्य दूध गायका है । गोबरसे खाद मिलती है, जो भारतकी सदियों पुरानी खेतीकी उर्वरता बनाये हुए है । किसान और बैल—दोनों भारतीय कृषिके अविभाज्य अङ्ग हैं—एक दूसरेके पूरक हैं ।

पाश्चात्त्य अर्थशास्त्रसे प्रभावित अर्थशास्त्रज्ञ कहते हैं कि भारतकी कृषि ट्रैक्टरसे हो सकती है । वे यह भूल जाते हैं कि ट्रैक्टरका उपयोग करना हो तो कम-से-कम दस एकड़ जमीन हर परिवारके पास होनी चाहिये, जबकि भारतके अधिकांश किसानोंके पास दोसे पाँच एकड़ ही जमीन है । यदि ट्रैक्टरपर अवलम्बित रहना पड़ा तो करोड़ों रुपये पूँजीके रूपमें लगेंगे । तेलके लिये विदेशोंका मुँह ताकना पड़ेगा और हमारी आजकी उपलब्ध पशु-शक्तिके भण्डारका नाश करना होगा । इससे देश डूब जायगा ।

गोवंशसे हमें उत्तम खाद मिलती है । उससे जमीनकी उर्वरा-शक्ति बढ़ती है । रासायनिक खादसे कुछ वर्ष तात्कालिक उपज बढ़ती है । बादमें प्रतिवर्ष अधिक खाद देनी पड़ती है । खर्च बढ़ता है । जमीनकी उर्वरा-शक्ति घटती है । कृत्रिम खादका व्यापक उपयोग अभिशाप है । भारतकी कृषिभूमि ऊसर होगी तो देश तबाह होगा । हमें गोबरकी खादको अधिक वैज्ञानिक ढंगसे बढ़ाना होगा, यह सम्भव है । यह खाद स्थायी उर्वरताका स्रोत है ।
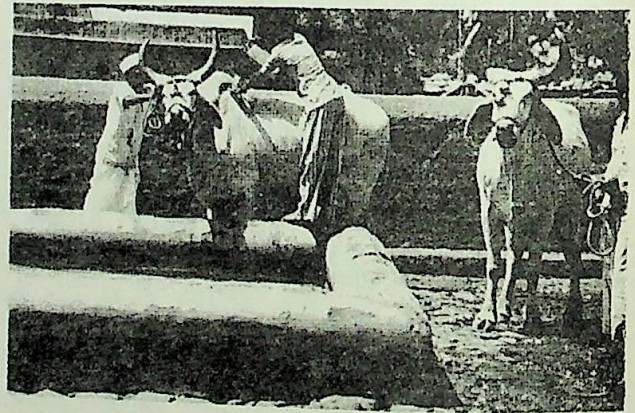
गोबर उर्जाका एक प्रचण्ड स्रोत है । गोबर-गैसके उपयोगसे ईंधनकी बचत होती है । यातायात-मालको ढोनेके लिये बैल और बैलगाड़ी ग्रामीण क्षेत्रमें अतुलनीय हैं । श्रीमती इंदिरा गाँधीने उर्जाके अन्तराष्ट्रिय सम्मेलनमें नैरोबीमें कहा था कि भारतभरके बिजली-घरोंसे जितनी उर्जा-शक्ति मिलती है, उससे अधिक भारतके पशुधनसे मिलती है । यदि हम इस परम्परागत शक्ति-स्रोतको छोड़

दें तो अरबों रुपयोंकी पूँजी खर्च करनी होगी, जो कि मूर्खता मानी जायगी ।'

भारतमें पशुधनके साथ ही मांसका बहुत बड़ा व्यापार चलता है । पूरे देशमें २८०० सरकार-प्रमाणित कतलखाने हैं । अवैध रूपसे पशुहत्या देहातों और शहरोंमें व्यापक प्रमाणमें हो रही है । बंबईके पास देवनारमें एशियाका सबसे बड़ा और दुनियाका नंबर दोका कतलखाना है । यहाँ बहुत बड़े पैमानेपर जानवर काटे जाते हैं । यहाँसे विदेशोंमें मांसका निर्यात भी होता है ।

बंगाल और केरलको छोड़कर अन्य सभी प्रान्तोंमें गाय तथा छोटे बछड़ोंकी हत्या कानूनद्वारा बंद है । चौदह वर्षसे अधिकका बैल अक्षम होनेपर ही काटा जा सकता है । अच्छे, कृषियोग्य बैल बूढ़े घोषित करके काटे जाते हैं । बूढ़े बैलका मांस कौन खायेगा ? विदेशोंमें कैसे निर्यात होगा ? इन कतलखानोंमें भारतके पशुहत्या-बंदी कानूनकी ही हत्या होती है ।

कातिल और व्यापारी अच्छे पशुओंकी टाँग तोड़ देते हैं, आँखें फोड़ देते हैं । उन्हें लँगड़ा, लूला करके अकार्यक्षम घोषित कर लेते हैं और कतल कर देते हैं । इस चित्रमें बैलकी आँख फोड़ दी गयी है ।

बंगाल और केरलमें भारतभरकी अच्छी-से-अच्छी दुधारू गायें काटी जाती हैं । वहाँकी सरकार दुधारू तथा अच्छी गायोंके रक्षणके लिये संविधानकी धाराकी अवहेलना कर गायोंको काटने देती है । भारतका उत्तम गोधन कलकत्ता, बंबई-सरीखे शहरोंमें जाकर कट रहा है ।

मनुष्यके पूरे जीवनभर सेवा करनेवाले इन मूक पशुओंके साथ किये जानेवाले दुर्व्यवहार और क्रूरताकी सीमा नहीं है । ट्रकोंसे उन्हें ऐसा पटका जाता है, मानो बोरियाँ हों । कतलखानोंमें उन्हें ऐसा घसीटा जाता है, मानो उनमें प्राण न हों ।
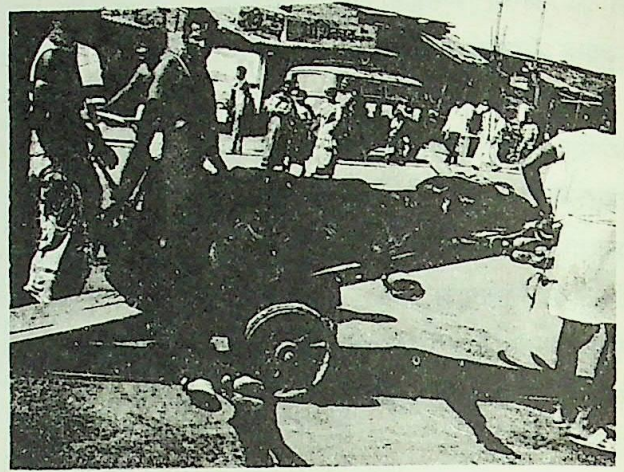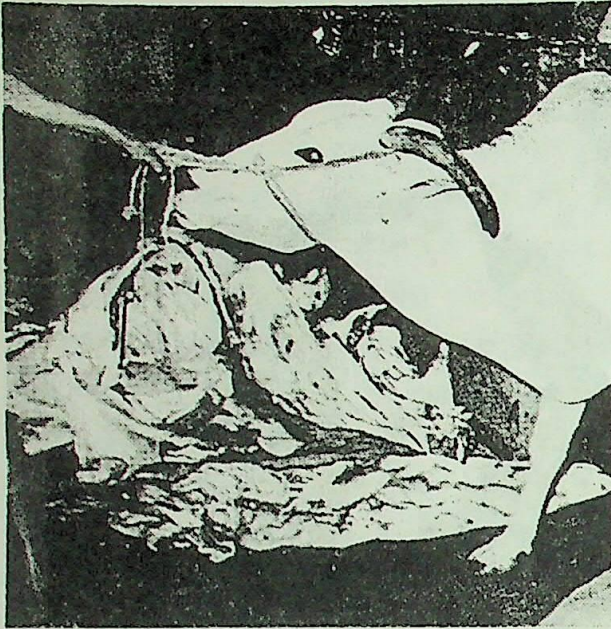
देशभरमें कई जगह—महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, तामिलनाडु, आन्ध्र, कर्नाटक आदिमें कतलके लिये ले जाये जानेवाले गोवंशके जत्थोंको गो-सेवक और नागरिकोंने रोका है । अवैध कतलखानोंपर पुलिसकी सहायतासे छापे मारे हैं । कसाइयोंके द्वारा उन्हें पीटा गया है । कई जगह न्यायालयोंने रोकी गयी गायोंको गोसदनोंके हवाले किया है ।
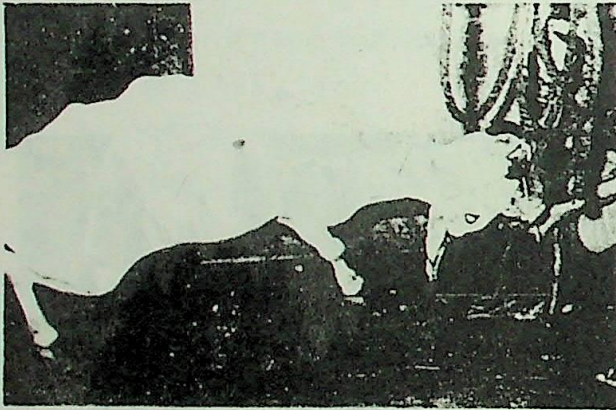
मुसलमानोंके जमानेमें गोकुशी कानूनद्वारा बंद थी । अंग्रेजोंने गोरे लोगोंकी गोमांस खानेकी आदतके कारण इसे आरम्भ किया । अंग्रेजियतको ओढ़े हुए आजकी भारत-सरकारने विदेशी मुद्राके लोभसे और हिंदू-मुस्लिम झगड़ेके बनावटी कारणके आड़में इसे जारी रखा है । कश्मीर-सरीखे मुस्लिम-प्रधान राज्यमें सम्पूर्ण गोवंश-हत्याबंदीका कानून लागू है।

हालमें ही भारतके भू० पू० राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानीजैलसिंहजीने वाराणसीमें एक गोसदनके कार्यक्रममें कहा—'**गोहत्यापर रोक लगानेकी माँगको लेकर संत विनोबाने अनशन किया था। उस समय सरकारने गोवध रोकनेका आश्वासन दिया और उनका अनशन तुड़वाया। पर आजतक कुछ नहीं किया गया। इस वादा-खिलाफीके लिये मैं भी अपनेको जिम्मेवार मानता हूँ। हम सत्तामें आते ही गोवध रोकनेके लिये किये गये वायदोंको भूल गये।**'
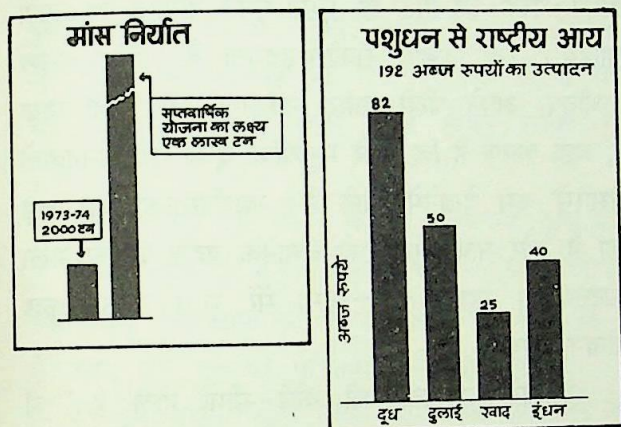
आइये, हम सब संकल्प करें कि ग्रामीण भारतपर हो रहे इस भयंकर षड्यन्त्रका हम सब मिलकर विरोध करें। भारतके जंगल कटनेसे देहातोंमें बाढ़ और सूखेके कारण तबाही आ रही है। भविष्यमें पशुधनके समाप्त होनेपर भारतके देहात और खेती डूब जायगी। शहरोंकी अट्टालिकाओंमें संचित होनेवाली सम्पत्तिके पीछे ग्रामीण भारतकी भूख और शोषित-जीवन ढका है। भारतके संकटको बचानेके लिये संकल्प करें। '**गाय बचेगी—देश बचेगा**' यह एक नारा नहीं है, भविष्यका पथप्रदर्शक घोष-वाक्य है।*

केन्द्र-सरकार अविलम्ब गोहत्या-बंदीका कानून बनावे और बुद्ध, महावीर, गाँधीके देशसे मांसका निर्यात बंद करे।

जनता अपने अमूल्य वोटोंकी कीमत समझे और कानून बनानेके लिये विधायक और सांसदको बाध्य करे।

भगवान् श्रीकृष्णने दुनियाको दो वस्तुएँ दीं—गीता और गोसेवा। गीताने भारतीय जीवनदृष्टि सामने रखी और गो-सेवाने मानवजातिको अहिंसाकी ओर मोड़ा।

जागे जनता खुले राह

गोवंश-हत्याके प्रमुख कारण—

१-देशमें यन्त्रीकरण और केन्द्रीकरण।

२-डिजल-पेट्रोल आधारित अर्थतन्त्र।

३-वोटकी राजनीति।

* विशेष जानकारी एवं सहयोगके लिये सम्पर्क-स्थल—रामभाऊम्हसकर, गो-गीता-प्रचार-कार्य पो०-पवनार (महाराष्ट्र ४४२१११)

कहानी—

चिकना घड़ा

(श्रीमती बलवीर 'बीर')

मेरे पतिका एक विचित्र स्वभाव यह था कि यदि कोई उनसे अपनी दुःख-दर्दभरी बात सुनाकर सहायताके लिये कहता तो उनका हृदय एकदम द्रवित हो जाता और उसके दुःख-निवारणके लिये वे इतने उतावले हो जाते कि जबतक उसका कोई हल ढूँढ़ न लें, तबतक उन्हें चैन नहीं पड़ती। ऐसा करनेमें कई बार उन्होंने रुपये-पैसोंके अतिरिक्त तनके कपड़ेतक उतारकर लोगोंको दे दिये थे।

उनके ऐसे व्यवहारके कारण मैं कई बार उनसे उलझ पड़ती थी और कहा करती—'हम गृहस्थ हैं, त्यागी नहीं हैं। इस तरह करते रहनेसे हमारा घर उजड़ जायगा, परंतु मालूम नहीं आपके अंदर यह कमजोरी क्यों घर कर चुकी है। इसका अन्त अच्छा नहीं होगा। इस तरह अपने-आपको लुटाते रहना बुद्धिमत्ता नहीं है।'

बार-बार ऐसा समझानेपर भी उनपर कुछ असर नहीं होता था और मेरी फटकारको हँसीमें उड़ाते हुए वे कह देते—'तुम पगली हो! सुनो! जब मैं पैदा हुआ था, तब अपने साथ कुछ भी लेकर नहीं आया था और जब मैं बहुत छोटा ही था, तभी मेरे माँ-बापकी छाया मेरे सिरसे उठ गयी थी और तब मैं अनाथ रह गया था। अब·····अब·····कई दयालु सज्जनोंकी दयाके कारण ही मैं इतना बड़ा हो गया हूँ······भगवान्‌ने मुझे कितना बड़ा व्यापारी बना दिया है।····ये सब वस्तुएँ मेरी नहीं हैं······भगवान्‌की ही देन हैं। इसलिये भगवान्‌के बंदोंका इनमें थोड़ा-बहुत अधिकार होना ही चाहिये।

संसारमें रहकर मुझे उनकी ऐसी साधुओं-सरीखी बातें बहुत बुरी लगा करती थीं। विशेषकर इसलिये कि मैं इसे उनकी मानसिक कमजोरीके सिवा और कुछ नहीं समझती थी। इसीलिये मैं उनके ऐसे विचारोंसे कभी सहमत नहीं होती थी और सदैव विरोधमें कहती—'हमारे भी बाल-बच्चे हैं, हमें उनकी भी चिन्ता करनी है। आप हैं कि जो भी आता है, उसके लिये पागल हो उठते हैं। इस तरहका आदमी तो मैंने आजतक कोई नहीं देखा। यदि आप ऐसे ही करते रहे तो इसका बहुत बुरा परिणाम भोगना पड़ेगा। संसारमें रहकर व्यावहारिकताको हाथसे नहीं खो देना चाहिये।'

मेरा ऐसा तर्क सुनकर वे तड़प उठते और झल्लाकर कहते—'क्या तुम्हारा यह मतलब है कि बस मेरा संसार अपने घरके इर्द-गिर्द ही घूमते-घूमते समाप्त हो जाना चाहिये? यह तुम्हारी संकीर्ण-हृदयता है। चूँकि मनुष्य अभीतक अपने घेरेसे बाहर निकलना सीख नहीं पाया है, यही कारण है कि दूसरे मनुष्योंका दुःख-दर्द जाननेवाले संसारमें कम देखनेमें आते हैं। स्वार्थपरताका जोर बढ़ रहा है और मानव मानवको बचानेके बदले उसका गला काटता जा रहा है········तुम्हें मेरे साथ रहकर कुछ सीखना होगा।'

'सीखने-सिखानेकी भी कोई सीमा होती है।' मैं जल-भुनकर कहती—'आपने कभी न यह देखा है, न सोचा है कि जो आपके पास आ रहा है, वह असलमें अधिकारी भी है या नहीं। लोगोंको, आपकी दयालुता कहूँ या कमजोरी—उसका ज्ञान हो चुका है और वे उसका लाभ उठाते चले जाते हैं।

मैं सैकड़ों बार उन्हें इस तरह समझा-समझाकर थक-सी गयी थी, परंतु वे एक थे जैसे चुपड़ा हुआ घड़ा। प्रतिदिन अपनी आँखोंसे ऐसा होते देखकर अन्ततः मैंने सोचा कि लड़ाई-झगड़ा करनेसे तो ये अपनी आदत बदलेंगे नहीं, इसलिये अब इन्हें अपनी शपथ दिलाऊँगी। मुझे पता था कि मेरी शपथका किसी हालतमें भी ये उल्लङ्घन नहीं कर पायेंगे; क्योंकि इनकी जबानसे प्रायः मैंने यह कहते हुए सुना था—'यह सब तुम्हारा ही प्रताप है। तुम्हारे कदम पड़नेपर ही लक्ष्मी मेरे ऊपर प्रसन्न हुई हैं। यदि तुम मुझे न मिलती तो मेरा जीवन मिट्टीमें मिल जाता। तुम्हारे लिये मैं सब कुछ करनेको तैयार हूँ' और मुझे अपने अन्तिम हथियारको आजमानेका

संयोग भी जल्दी ही मिल गया।

नवम्बरका महीना था। वे कामपर जानेकी अभी तैयारी कर ही रहे थे कि नीचेसे किसीने घंटी बजायी। मैंने खिड़कीसे झाँका। एक साँवले रंगका नौजवान खड़ा था। उसने पूछा—'क्या बाबूजी घरपर हैं ?'

एकाएक मेरे मनमें एक शङ्का उत्पन्न हुई। सोचा, कुछ माँग लेकर आया होगा। मनमें आया कह दूँ कि वे घरपर नहीं हैं। मैं अभी ऐसा करनेकी बात सोच ही रही थी कि इन्होंने झटसे नीचे ताका और जोरसे पुकारा—'देवेन्द्र ! आ जाओ।'

वह कमरेमें आकर बैठ गया। मैं कमरेसे तो चली गयी, किंतु दीवालके सहारे खड़ी होकर उनकी बातें सुनती रही।

देवेन्द्र कह रहा था—'बाबूजी ! आपकी कृपाओंका मैं बहुत आभारी हूँ। आपकी कृपासे और आपकी सहायतासे, जो आप मेरी फीसके सम्बन्धमें करते रहे हैं, मैं आज बी० ए० की परीक्षामें पास हो गया हूँ।'

उन्होंने उसकी पीठ ठोंकी और उसे प्रोत्साहन देते हुए कहा—'अब तुम्हारा कष्ट कट गया समझो। कहीं नौकरी लग जायगी। चेष्टा करो।'

'बाबूजी !' देवेन्द्रने नम्रतापूर्वक कहा—'आपकी बात तो ठीक है, परंतु नौकरी भी तो बिना सिफारिशके नहीं लगती।'

'चिन्ता मत करो। भगवान् करे तुम्हें नौकरी भी शीघ्र मिल जाय। मैं तुम्हारी किसी अच्छी-सी जगहपर सिफारिश कर दूँगा······तुम मुझसे मिलते रहना।'

देवेन्द्रने आँखोंमें कृतज्ञता लाते हुए कहा—'मैं आपका धन्यवाद किन शब्दोंसे करूँ बाबूजी !'

'इसमें धन्यवाद करनेकी क्या बात है। तुम मेरे प्रिय हो, जहाँतक मुझसे हो सकेगा, मैं तुम्हारी अवश्य सहायता करूँगा।'

'मैं आपको याद दिलाता रहूँगा। आपके बिना मेरा अमृतसरमें और कोई भी तो नहीं है। सब रिश्तेदार अपने-आपमें मस्त हैं। निस्संदेह वे सब खाते-पीते हैं, किंतु कभी किसीने मेरी सहायता नहीं की। आपने जो मेरी सहायता आजतक की है, मैं जीवनभर भूल नहीं सकूँगा और सारी आयु आपका पानी····।'

इन्होंने उसकी बात काटते हुए कहा—'ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहिये। मैं कौन हूँ जो किसीकी सहायता कर सकूँ। सब चक्र ऊपरवाला ही चलाता है।'

देवेन्द्रने जानेसे पहले कहा—'बाबूजी ! एक······ अर्ज करूँ।' 'हाँ, हाँ ! झिझक किस बातकी ?'

देवेन्द्रने रुकते-रुकते कहा—'मेरे पास जो रजाई है, वह चार-पाँच साल हुए बनवायी थी······और अब बिलकुल फट चुकी है·····उसमें मैं आजकल इस सख्त सर्दीमें अकड़ जाता हूँ·····एक रजाई यदि मिल जाय····· तो इस सर्दीसे बच जाऊँगा······नहीं तो·····।'

एक क्षण कुछ सोचकर उन्होंने कहा—'कल दोपहरको दूकानपर आना, मैं तुम्हारे लिये रजाईका प्रबन्ध कर दूँगा।'

देवेन्द्र जब चला गया, तब मैंने इस विषयपर उनसे पर्याप्त नोक-झोंक की; किंतु वे हारनेवाले कब थे। अन्ततः मैंने अन्तिम तीर चलाया। अपनी शपथ दिलायी। उन्होंने उत्तरमें मुझे आश्वासन देते हुए कहा—'मैं तुम्हारी शपथ करता हूँ कि बाजारसे रजाई खरीदकर नहीं दी जायगी।'

मुझे उस दिन पहली बार अपनी विजयपर प्रसन्नता हुई थी, परंतु उन्होंने जो शपथ की थी, वह तो मुझे बादमें पता चला कि वह एक ऐसी शरारत थी जो वकील लोग बातें करते समय किया करते हैं। देवेन्द्रके आनेके दूसरे दिन हमलोगोंको दिल्ली उनके बड़े भाईकी लड़कीके विवाहमें जाना था। मैं दोपहरको सब सामान तैयार करके बिस्तर आदि बाँधकर अपने मैके जब मिलने गयी, तब रास्तेमें इन्हें कहती गयी कि आप शामको घरपर जल्दी आ जाना। मैंने देखा कि देवेन्द्र उस समय उनके पास बैठा था। उसे देखकर न मालूम मुझे उसपर क्यों क्रोध आ गया था।

दिल्ली पहुँचकर जब रातको बिस्तर लगाये गये तो इनकी रजाईका वहाँ कुछ पता न चला, बहुत-से लोग आये हुए थे। मैंने सबकी रजाइयाँ एक-एक करके उलट-पुलट करके देखीं, किंतु इनकी रजाई सचमुच गुम थी। मैं बड़ी व्याकुल हो रही थी। मैंने स्वयं ही तो

इनका बिस्तर तैयार किया था, फिर रजाई गुम कैसे हो गयी। रास्तेमें हमने बिस्तर खोले ही न थे। जो कम्बल हमारे पास थे, उन्हींसे रास्तेमें गुजारा हो गया था। मैं घबरायी कि इन्हें जब अपनी रजाई नहीं मिलेगी, तो ये मुझपर रुष्ट होंगे। एक शङ्का पैदा हुई—'सम्भवतः मैं जल्दी-जल्दीमें अमृतसर ही भूल आयी हूँगी।'

रातको जब इनके भाईके घरसे नयी रजाई लेकर इनके बिस्तरपर रखी तो सोते समय इन्होंने मुझसे सरलतापूर्वक पूछा—'मेरी रजाई कहाँ है?'

मैंने डरते-डरते उत्तर दिया—'बिस्तर बाँधते समय सम्भवतः मैं अमृतसर ही भूल आयी हूँ।'

'वाह! तुम भी बड़ी चतुर स्त्री हो!' उन्होंने भोले भावसे कहा—'मेरे साथ तर्क-वितर्क करनेमें तो कभी भूल नहीं करती हो और इतनी बड़ी रजाई वहाँ कैसे भूल गयी?'

मैं हारे हुए सिपाहीके सदृश थी, क्या उत्तर देती। सहसा मेरे मुँहसे निकल गया—'अवश्य इसमें आपकी शरारत होगी।'

'मेरी शरारत! इस तरह थोड़े ही जीता जा सकता है?' उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

मैं अभी कुछ उत्तर दे ही नहीं पायी थी कि जेठजी आ गये और मैं चुपकेसे वहाँसे खिसक गयी।

विवाहकी भीड़-भाड़में रजाईकी बात मेरे दिमागसे उतर-सी गयी थी। विवाहके बाद बाहरसे आये हुए लोग जा रहे थे। भीड़-भाड़ कम हो रही थी। एक दिन दोपहरको पोस्टमैन कुछ चिट्ठियाँ फेंक गया। उनमें एक चिट्ठी इनके नामकी भी थी। मैंने उसे खोल लिया। जब मैंने उसे पढ़ा तो मेरे विस्मयकी कोई सीमा न रही। पत्र देवेन्द्रका था। लिखा था—

'पूज्य पिताजी! मुझे विश्वास है कि आप सब प्रसन्नतापूर्वक दिल्ली पहुँच गये होंगे। बहुत दिनोंके बाद मैं अब रातको आरामसे सोया करता हूँ। आपकी दी हुई रजाईसे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मैं आपके साथ ही सोता हूँ और आप मुझे थपकियाँ दे-देकर सुलाते रहते हैं। इस समय भी मैं इस निष्प्राण रजाईके तार-तारमें आपके दर्शन कर रहा हूँ। ऐसा हो भी क्यों न! आपकी मेरे प्रति प्रीति सदा ही मिलावटसे दूर रही है। यह रजाई आपके हृदयकी भीतरी भावनाओंका जीता-जागता चित्र है।'

पत्र समाप्त करते-करते न मालूम क्यों और कैसे मेरे नेत्रोंमें अलौकिक आनन्द और शान्तिके अश्रु छलछला आये, जिन्होंने मेरे हृदयके अन्तरतम तारोंको झकझोर कर जन्म लिया था। उनकी रजाईने एक गरीब प्राणीको कितना बड़ा सुख पहुँचाया था, यह सोचते-सोचते मेरी आत्मा उनकी महानताके आगे झुक-सी गयी।

जब वे घर आये, तो मैंने वह पत्र उन्हें दे दिया। पत्र पढ़कर उन्होंने मुझसे हँसते हुए कहा—'अब तो खोयी हुई रजाई मिल गयी है न?'

मेरी आँखोंमें अपार प्रसन्नता थी, फिर भी मैं उन्हें उनके सामने उठा न सकी। केवल इतना ही कह पायी—'आजसे मैंने निश्चय कर लिया है कि कभी आपका विरोध नहीं किया करूँगी।' अब मुझे विश्वास हो गया कि मेरे पति चिकने घड़ेके सदृश हैं।

मेरा उत्तर सुनकर वे मुसकराकर बोले—'जो काम मैं अभीतक कर नहीं पाया था, मुझे प्रसन्नता है कि देवेन्द्रके एक पत्रने ही वह कर दिखाया।'

'मातृ-धर्म'

(पं॰ श्रीविश्वबन्धुजी शास्त्री 'प्रभाकर')

त्याग तप मूर्त्त रूप मातामें दिखायी पड़े, शुद्ध प्रेम-भाव भी, प्रभाव पूर्ण होता है।
ममताका स्रोत सब ओर बहता है सदा, उस ही में आँख मूँद बाल्यकाल सोता है॥
सुप्त भावनाओंको न ठेस लग जाते कहीं, आँसुओंको बार-बार मातृ-मुख ढोता है।
आपत्ति पड़नेपर तड़प उठता है जो, वही उर हाहाकार, आह भर रोता है॥

गुरु-भक्त बालक एकलव्य

(श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जो जितेन्द्रिय तथा साधन-परायण है, वह श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है और ज्ञानको प्राप्त होकर वह तत्काल परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' ज्ञान-प्राप्तिके तीन प्रमुख सूत्र हैं—जितेन्द्रियता, तत्परता (लगन) एवं गुरु और विद्याके प्रति सच्ची श्रद्धा (निष्ठा)। प्रत्येक शिक्षार्थीको सफलता-प्राप्तिके लिये इन सूत्रोंका अवलम्बन लेना चाहिये। इस विषयमें निम्नाङ्कित दृष्टान्त द्रष्टव्य है।

द्वापर युगकी बात है, बालक एकलव्य निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र था। वह हस्तिनापुरके पास एक वनमें रहता था। धनुर्विद्या उस कालकी एक प्रमुख विद्या थी। एकलव्यके मनमें धनुर्विद्या-प्राप्तिकी लालसा जगी। उसे यह मालूम करते देर न लगी कि धनुर्विद्याके सर्वश्रेष्ठ शिक्षक गुरु द्रोणाचार्य हैं। उसने उसी समय मन-ही-मन द्रोणाचार्यको अपने गुरुरूपमें वरण कर लिया।

उस समय गुरु द्रोणाचार्य हस्तिनापुरमें रहते थे। वे भीष्मपितामहकी आज्ञासे कौरव एवं पाण्डव राजकुमारोंकी शिक्षाके लिये नियुक्त थे। उन्होंने पितामहको राजकुमारोंको शिक्षा देनेका वचन दे दिया था। एक दिन अचानक बालक एकलव्य उनके चरणोंमें जा पहुँचा। उसने चरणोंका वन्दन कर उन्हें अपना निश्चय बताया और धनुर्विद्याकी याचना की।

उसे देखकर द्रोणाचार्य यह समझ गये कि बालक श्रद्धावान् है और उसने उन्हें गुरुरूपमें वरण कर लिया है। बालकके भावको देखकर उनका हृदय भर आया, परंतु वे विवश थे; क्योंकि राजाके बन्धनमें थे—उनका अन्न ग्रहण कर रहे थे। वे जानते थे कि राजकुमार किसी दूसरे बालकको अपने साथ शिक्षा देना कभी भी पसंद नहीं करेंगे। यह कार्य मर्यादाके प्रतिकूल भी था।

द्रोणाचार्यने बालक एकलव्यको हृदयसे लगा लिया। उन्होंने बालकको समझाया कि 'बेटा! मैं शस्त्रशिक्षा देनेमें इस समय स्वतन्त्र नहीं हूँ, अतः मैं तुम्हें धनुःशिक्षा दे नहीं सकूँगा', परंतु गुरुने अपने रोम-रोमका आशीर्वाद एकलव्यको दिया।

एकलव्य तो द्रोणाचार्यको अपना गुरु बना ही चुका था, अतः उसके मनमें गुरुके प्रति अश्रद्धा, रोष अथवा दोष-बुद्धिके होनेका तो प्रश्न ही नहीं था। उसने गुरुदेवसे केवल कृपाकी याचना की। वह गुरुदेवको किसी भी प्रकारके संकोचमें डालना भी नहीं चाहता था, अतः अपने पूज्य गुरुदेवकी कृपा लेकर लौट गया।

एकलव्यकी तत्परतामें किसी भी प्रकारकी कमी नहीं हुई। उसमें अविचल श्रद्धा थी। उसका निश्चय दृढ़ था। उसने वनमें गुरु द्रोणाचार्यकी एक मिट्टीकी मूर्तिका निर्माण किया। नित्य मूर्तिकी पूजा एवं बाण-विद्याका अभ्यास—यही उसका नित्यका कार्य था। उसका अभ्यास निरन्तर चलता रहा। समय बीत गया और एक दिन वह धनुर्धर हो गया।

एक दिन कौरव-पाण्डव राजकुमार अपने गुरुदेव द्रोणाचार्यके साथ उसी वनमें जा पहुँचे। वे वहाँ धनुर्विद्याका अभ्यास कर रहे थे। उनके साथ एक कुत्ता था। वह कुत्ता इधर-उधर दौड़ते-दौड़ते एकलव्यके पास पहुँच गया और उसके निषाद-वेशको देखकर जोरसे भूँकने लगा। एकलव्यके बाण-अभ्यासमें बाधा उत्पन्न हो गयी। उसने सात बाण चलाकर कुत्तेका मुख बंद कर दिया। उसने इस कलासे बाण चलाये कि कुत्तेके मुखसे न एक बूँद रक्त गिरा और न उसे किसी प्रकारकी चोट ही आयी। कुत्तेका भूँकना भर बंद हो गया।

कुत्ता दौड़ता-दौड़ता अपने राजकुमारोंके पास पहुँचा। कलापूर्ण ढंगसे बाणोंद्वारा कुत्तेका मुख बंद देखकर सभी विस्मयमें पड़ गये। उनसे भी बढ़कर कोई धनुर्धर है—यह बात राजकुमारोंकी समझमें ही न आयी। गुरुदेवके साथ खोजते-खोजते वे लोग एकलव्यके पास पहुँचे। सभी राजकुमारोंने गुरुकी मूर्तिके दर्शन किये।

एकलव्य साक्षात् गुरुदेवको अपने सामने पाकर उनके चरणोंमें गिर गया। गुरुदेवने पूछा—'बेटा! यह धनुर्विद्या

तुमने कहाँसे प्राप्त की ?' एकलव्य मौन था। उसकी दृष्टि गुरुदेवकी मूर्तिकी ओर थी और उसके नेत्र अश्रुपूर्ण थे। राजकुमारोंको यह समझते देर न लगी कि उसके गुरु भी द्रोणाचार्य ही हैं।

राजकुमारोंका हृदय ईर्ष्यासे जलने लगा—गुरुदेव यह बात समझ गये। अब गुरुदेवको इस जगत्‌को एक अनुपम दृश्य दिखाना था। वे अपने शिष्य एकलव्यको पुरस्कारमें क्या दे सकते थे ? एकलव्यके हृदयमें राज्य-प्राप्तिकी लिप्सा नहीं थी कि वह कोई बड़ा राजा बनकर अपनी कीर्ति-पताका फहराये।

एकलव्यने नम्रतासे गुरुदेवको गुरु-दक्षिणा देनेकी याचना की। राजकुमारोंकी ईर्ष्याने गुरुदेवके हृदयमें एक नयी प्रेरणा दी। वे मन-ही-मन सोचने लगे कि अपने शिष्य एकलव्यकी कीर्ति-पताका किस तरह फहराये। उन्हें एक उपाय सूझा। द्रोणाचार्यने कहा—'वत्स एकलव्य ! मुझे दक्षिणामें तुम्हारे दाहिने हाथका अँगूठा चाहिये।' कहनेभरकी देर थी। एकलव्यको कुछ सोचना नहीं था। वह जानता था कि दाहिने हाथके अँगूठेके बिना धनुर्विद्या व्यर्थ है, परंतु उसके जीवनके सर्वस्व गुरुदेव ही थे, अतः उसने तलवारकी धारसे तत्काल अपने दाहिने हाथका अँगूठा काटकर गुरुदेवके चरणोंमें समर्पित कर दिया।

एकलव्यकी गुरु-भक्ति देखकर सभी राजकुमारोंका सिर झुक गया। द्रोणाचार्यका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे कुछ बोल नहीं सके। गुरुदेवने एकलव्यको आशीर्वादमें सुयश दिया। जगत्‌को शिष्यकी श्रद्धाका एक अनोखा रूप मिला। बालक एकलव्यकी कीर्ति सदैव सभी शिक्षार्थियोंको प्रकाश देती रहेगी।

वन-मार्गमें श्रीरामके प्रति ग्रामीणोंके वितर्क

जबतें सिधारे यहि मारग लषन-राम,
जानकी सहित, तबतें न सुधि लही है।
अवध गए धौं फिरि, कैधौं चढ़े बिंध्य गिरि,
कैधौं कहुँ रहे, सो कछु, न काहू कही है ॥
एक कहै, चित्रकूट निकट नदीके तीर,
परनकुटीर करि बसे, बात सही है।
सुनियत, भरत मनाइबेको आवत हैं,
होइगी पै सोई, जो बिधाता चित्त चही है ॥
सत्यसंध, धरम-धुरीन रघुनाथजूको,
आपनी निबाहिबे, नृपकी निरबही है।
दस-चारि बरिस बिहार बन पदचार,
करिबे पुनीत सैल, सर-सरि, मही है ॥
मुनि-सुर-सुजन-समाजके सुधारि काज,
बिगरि बिगरि जहाँ-जहाँ जाकी रही है।
पुर पाँव धारिहैं, उधारिहैं तुलसीहू से जन,
जिन जानि कै गरीबी गाढ़ी गही है ॥

(गीतावली)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बच्चेसे सहानुभूति

यह सच्ची घटना दिनाङ्क ४-६-६४ अपराह्ण दो बजेकी है। मेरा लगभग ग्यारह वर्षका बच्चा, जिसका नाम व्रजेशकुमार 'राजू' है, मुझसे बाटाकी चप्पल लेनेके लिये आग्रह करने लगा। कठिन धूप होनेके कारण मैंने उसे समझा-बुझाकर मना किया, पर उसके हठ करनेपर मैं स्वयं न जाकर उसे पाँच-पाँच रुपयेके दो नोट देकर साइकिलसे भेज दिया। अभी वह साइकिल सीटपरसे नहीं चला पाता था। कैंची साइकिल चलाकर चौकपर स्थित बाटाकी दूकानपर, जो घंटाघरके पास थी, गया। साइकिलमें ताला लगाकर वह अंदर चप्पल लेने गया और चप्पल पसंद होनेपर उसका मूल्य चुकानेके लिये अपनी जेबसे रुपया निकाला। भीड़ होनेसे बालक रुपया कैशियरको देनेकी चेष्टामें था कि उसके हाथसे दोनों नोट किसीने सफाईसे निकाल लिये। बालक तुरंत रोने लगा। उसकी बातपर किसीने विश्वास नहीं किया, प्रत्युत उलटे कुछ लोग उसीको धूर्त बताने लगे। बच्चा तो था ही, वह अधिक घबरा गया। उन्हीं व्यक्तियोंमें एक उदार-हृदय सज्जन भी बैठे थे, उनकी कार बाहर खड़ी थी। उनकी धर्मपत्नी तथा बच्चे भी साथ थे। उन्होंने यह सब घटना देखी और इसपर विचार किया। इसके बाद उन्होंने बच्चेको बुलाया। अपने झोलेसे एक लड्डू देकर पानी पिलाया और दस रुपयेका नोट देकर उसके चप्पलका मूल्य चुका दिया। चप्पलका मूल्य ५.५० था, सेलटेक्स आदिके कुछ और पैसे हुए थे। कैशियरने उन पैसोंको काटकर शेष रुपये उक्त सज्जनको लौटा दिये और उन्होंने वे पैसे मेरे बच्चेको दे दिये। इसके बाद वे अपनी कारके ऊपर उसकी साइकिल रखकर मेरे घरके ही संनिकटके चौराहेतक बच्चेको छोड़ गये। घर आकर बच्चा सारी घटना सुनाकर फूट-फूटकर रोने लगा और उसने उक्त सज्जनकी उदारता बतायी तथा उनकी कारका नम्बर जो उसे याद था, ५५७७ यू० सी० एन० बताया। बालकके तथा बाटावालोंके पूछनेपर भी उस विशालहृदय व्यक्तिने अपना पता नहीं बताया। केवल इतना ही कहा कि 'मैं दिल्लीका हूँ।' इस घटनासे मैं तथा मेरा सारा परिवार जितना रुपये गुम होनेके गमसे दुःखी नहीं हुए, उतना उस उदारहृदय सज्जनके विषयमें सोच-सोचकर आत्मविभोर हो गये। उन उदारहृदय सज्जनके प्रति हमारे कृतज्ञतापूर्ण अभिवादन।—राजकुमार पाण्डेय

(२)

वे सदा हमारे साथ हैं

एक बार मुझे तिरुपति जानेका अवसर मिला। सर्दीका मौसम था। बड़ी कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी। हम सात-आठ व्यक्ति साथमें थे। यद्यपि यात्राका प्रारम्भ ही हमलोगोंके लिये अच्छा नहीं था; क्योंकि हमारी मेटाडोरका ड्राइवर नशेमें था। उसे बदलवानेके चक्करमें थोड़ी नोक-झोंक हो चुकी थी, फिर भी तिरुपतिका स्मरण करके हमलोग निकल ही पड़े।

मद्राससे तिरुपतिकी यात्रा अच्छी रही। तिरुपतिसे तिरुमल्ला (ऊपर) हमलोग उच्चस्वरसे भजन करते जा रहे थे। सहसा ठीक बीचोबीच एक मोड़पर हमारी मेटाडोर रुक गयी। देखनेपर पता चला कि डीजल समाप्त हो चुका था। हमलोग घबरा गये। रात अधिक बीत चुकी थी। मध्यमार्गमें होनेके कारण हमलोग न तो ऊपर जा सकते थे, न नीचे ही आ सकते थे। दो-तीन बसें गयीं, सब भरी हुई थीं। कोई रुकनेके लिये तैयार नहीं। हमलोगोंकी घबराहट बढ़ती जा रही थी। सिवाय 'गोविन्द'-नामके किसीके मुँहसे कुछ न निकलता। अनायास विपत्तिमें फँसे हमलोग सच्चे भावसे श्रीबालाजीका स्मरण करने लगे। इसी समय एक चमत्कार-जैसा हुआ। अचानक एक खाली बस सीधे आकर हमारे पास रुकी। बसमें ड्राइवरके अतिरिक्त दूसरा कोई न था। वह उसमेंसे

उतरकर सीधे हमलोगोंके पास आया और कहने लगा—'जल्दीसे अपना सामान बसमें रखो और हमारे साथ चलो।'

उस समय वह हमलोगोंके लिये साक्षात् श्रीबालाजी ही था। उसने हमलोगोंको ऊपर छोड़ा। इतना ही नहीं, वापसीके लिये हमारे ड्राइवरको लेकर नीचे गया, उसे डीजल दिलवाकर वापस ऊपर मेटाडोरतक लेकर आया।

मुझे तो ऐसा अनुभव हो रहा था कि अंदर दर्शनके लिये जाऊँ या उस ड्राइवरके पैर पकड़ लूँ, जो हमारे लिये साक्षात् तिरुपति बालाजीके अतिरिक्त कोई न था। मैं बार-बार स्मरण करने लगा—'जय वेंकटरमणा-गोविन्दा।' इस घटनासे मेरे मनमें श्रीबालाजीके प्रति बहुत ही श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।—शीला खटाडे

(३)

व्यापारमें उदारता

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। जयपुर महाराजके महलको सजानेके लिये बंबईकी दो प्रसिद्ध फर्मोंको फर्नीचर लगानेका आर्डर दिया गया। दोनों ही फर्में फर्नीचर बनानेमें निपुण तथा एक-दूसरेसे बढ़ी-चढ़ी थीं। संयोगवश फर्नीचरको पालिश करने तथा फिटिंग करनेके लिये दोनों ही फर्मोंके कारीगर एक ही साथ जयपुर पहुँच गये और अपने-अपने जिम्मेके अलग-अलग कमरोंके सजानेका काम धड़ाकेसे चलाने लगे। प्रतिद्वन्द्वीकी तरह दोनों फर्मोंके कारीगर एक-दूसरेके कामकी शिकायत महलके मास्टरसे करते और मास्टरके द्वारा बात महाराजतक पहुँच जाती।

एक दिन सबेरे स्वयं महाराज फर्नीचर देखने आये। उस समय एक फर्मके मालिक भी आये हुए थे। उन्होंने अपने मालकी बड़ी प्रशंसा करते हुए दूसरी फर्मके लिये कहा कि उसने लकड़ी बहुत हलके दर्जेकी बरती है। यों महाराजके क़ानमें जहर भर दिया। महाराजने उस फर्मको पत्र लिखा कि 'वह अपना फर्नीचर वापस ले जाय और एडवांसमें दिये हुए रुपये लौटा दे।' पत्र पढ़कर उक्त फर्मके मालिक बहुत दुःखी हुए। उसी रात्रिको वे जयपुरके लिये चल पड़े। व्यापारमें जीवनभर कभी धोखा न करनेपर भी यह लाञ्छन लग गया, इसके लिये वे ईश्वरसे क्षमा माँगने लगे।

स्टेशनसे वे सीधे ही महलमें पहुँचकर महाराजसे मिले। वहाँ प्रतिद्वन्द्वी फर्मके मालिकको उपस्थित देखकर उन्होंने परिस्थितिका सारा रहस्य समझ लिया। उनकी उपस्थितिमें ही उन्होंने महाराजको एडवांसका चेक वापस देते हुए कहा—'सरकार! आपने आर्डर रद्द कर दिया, इसका हमें कोई खास विचार नहीं है, परंतु यह तो हमारी प्रतिष्ठाका प्रश्न है। प्रत्येक फर्नीचरमें हमने शर्तके मुताबिक सागवानकी लकड़ीको ही काममें लिया है। इसकी तसल्लीके लिये मैं मशीन साथ लाया हूँ, आप अपने शहरके किसी अच्छे जानकारको बुलाकर जाँच करा लें। वे जाँच करके आपको निश्चित बात बता सकेंगे।'

इसी बीच प्रतिद्वन्द्वी फर्मके मालिक धीरेसे खिसक गये। महाराजने शहरके पारखीको बुलाकर जाँच करवायी, तब निश्चय हो गया कि लकड़ी ठीक सागवानकी ही लगी है और काम भी बहुत अच्छा किया गया है।

महाराजने आर्डर रद्द करनेका आदेश वापस ले लिया और उस फर्मके मालिकका आभार मानते हुए काम चालू रखनेको कहा। इसीके साथ महाराजने दूसरी फर्मका फर्नीचर कैसा है, यह जाननेके लिये उनसे पूछा। उन्होंने कहा—'सरकार! हम अपना माल कैसा है, केवल यही बता सकते हैं। दूसरेकी वस्तुके विषयमें सम्मति देकर उसे नीचा या हलका बतलाना हमारे सिद्धान्तमें नहीं है।' दोनोंका काम पूरा हुआ और रकम चुका दी गयी। इनमें इस फर्मका काम सहज ही सबको बहुत सुन्दर लगता था।

बहुत दिनों बाद महाराजके एक मित्र धनी मारवाड़ी सेठ महाराजसे मिलने आये और महलके सुन्दर फर्नीचरको देखकर अपने बँगलेके लिये वैसा ही फर्नीचर बनानेके लिये उन्होंने फर्नीचरवाले फर्मका नाम-पता लेकर उसे पत्र लिखा। महाराजने, जिसकी

शिकायत की गयी थी, पर जिसका काम सच्चा और बढ़िया हुआ था, उसी फर्मका नाम-पता बतलाया था । मारवाड़ी सेठने उन्हें लिखा कि 'वे उक्त फर्मको एक लाखका काम देंगे, वे तुरंत ही बँगला देखने जयपुर आ जायँ ।' चौथे दिन उस फर्मका उत्तर मिला। उसमें लिखा था—'आपने महाराज साहबके कथनानुसार हमलोगोंको आर्डर देनेके लिये बुलाया, इसके लिये हम आभारी हैं । पर इस समय हमारे हाथमें बहुत अधिक काम होनेके कारण हम आर्डर स्वीकार नहीं कर सकेंगे, इसके लिये क्षमा करें । हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप अपना काम नीचे लिखी फर्मको दे दें, वह बहुत अच्छा फर्नीचर बहुत सावधानीसे बना देगी ।' यों लिखकर नीचे उसी प्रतिद्वन्द्वी (महाराजसे झूठी शिकायत करनेवाली) फर्मका नाम-पता लिख दिया ।

मारवाड़ी सेठने उस दूसरी फर्मको लिखा कि 'बंबईकी अमुक फर्मने बढ़िया फर्नीचर बनानेके लिये आपका नाम बतलाया है । अतः आप आकर बँगला देख लें और आर्डर ले जायँ ।' जिस फर्मकी स्वयं शिकायत की थी, उसीने अच्छा काम करनेके लिये हमारा नाम बतलाया है, यह जानकर उस फर्मके मालिक बहुत ही लज्जित हो गये और जयपुरसे अच्छी-सी रकमका आर्डर लेकर जब वापस बंबई लौटे तो सीधे उस फर्मकी दूकानपर जाकर उन्होंने झूठी शिकायत करनेके लिये गद्गद कण्ठसे उनसे क्षमा माँगी और भविष्यमें कभी ऐसा न करनेका वचन दिया ।

आज भी वे दोनों फर्में प्रेमसे हिल-मिलकर काम करती हुई बंबईमें नामके साथ दाम भी कमा रही हैं । (अखण्ड आनन्द)

(४)

अनोखी सेवा

पोरबंदर तहसीलके मोढवाड़ा गाँवमें एक व्यक्ति रहता है। वह स्वभावसे परोपकारी जीव है। अपने परोपकारी स्वभावके अनुसार वह अपने घरके समीप वृक्षके ऊपर पक्षियोंको पानी पीनेके लिये मिट्टीका एक चौड़ा बर्तन बाँध देता, जिसमें पक्षी पानी पीते । इस प्रकार करते-करते अचानक एक दिन वह मिट्टीका बर्तन फूट गया; तब वह बेचारा गाँवके कुम्हारके यहाँ गया। अब आजके औद्योगिक युगमें गाँवोंमें ऐसे मिट्टीके कामके छोटे गृह-उद्योग बंद हो गये हैं। जो बनाते हैं, वे केवल मटका या सुराही आदि ही बनाते हैं। इस कारण उसे वैसा चौड़ा बर्तन नहीं मिला।

बर्तन न मिलनेसे उसकी बुद्धिमें एक नया विचार उत्पन्न हो गया कि इस गाँवमें तो कुम्हार है भी, फिर भी ऐसे बर्तन नहीं मिलते; परंतु सैकड़ों गाँव ऐसे भी होंगे, जहाँ मिट्टीका काम करनेवाले कुम्हार ही नहीं होंगे। फिर तो ऐसी गर्मीमें मिट्टीके ऐसे बर्तनोंके अभावमें लाखों पक्षी पानी बिना इधर-उधर भटकते होंगे। यदि किन्हींके मनमें पानी पिलानेकी इच्छा भी होगी तो ऐसे चौड़े बर्तन न मिलनेसे वे कोई व्यवस्था नहीं कर पाते होंगे। अतः अब कुछ करना पड़ेगा।

ऐसा विचार करके वह कुम्हारके समीप जाकर बोला कि 'तुम मुझे ऐसे एक हजार चौड़े बर्तन बना दो। आजसे ही बनाना प्रारम्भ कर दो और शीघ्र पकाकर मुझे दे दो। उसका जितना ही मूल्य होगा, मैं तुरंत चुकता कर दूँगा।' तदनन्तर उसने पोरबंदरसे लोहेकी पत्ती, रिपिट और पतला तार लिया तथा लुहारके पास जाकर ऐसे एक हजार स्टैंड बनवाये, जिनपर वे मिट्टीके चौड़े बर्तन रखकर वृक्षोंपर लटकाये जा सकें।

तत्पश्चात् स्टैंड और बर्तन लेकर उसने अपने गाँवमें बहुतसे स्थानोंपर अपने खर्चसे ही बाँध दिये और शेष बर्तन तथा स्टैंड समीपके गाँव बगबदर ले आया। कारण कि इस गाँवमें बस-स्टैंड रहनेसे आस-पासके तीस गाँवोंके यात्री आते-जाते रहते थे। इससे वहाँ आकर वह सभीको मिट्टीके बर्तनके सहित वह स्टैंड बिना मूल्यके ही देता। शर्त केवल इतनी कि अपने गाँव ले जाइये और गर्मीके समय पूरे दिन शीतल जल भरकर प्रकृतिके प्यारे पक्षियोंको पिलाइये।

इस प्रकार पचीस-तीस गाँवोंमें इस सज्जनने अपने

खर्चसे ऐसे स्टैंड बनवाकर वितरित करके शीतल जलकी मूक प्राणियोंके लिये व्यवस्था की और सभी उसकी इस सुविधाको स्वतः स्वीकार करने लगे। इस प्रकार लाखों पक्षी इस क्षेत्रमें आज भी शीतल जल पीते हैं और उस उपकारी आत्माको मूक आशीर्वाद देते हैं।

—अखण्ड आनन्द

मनन करने योग्य

महात्माका मूल्य

एक ऋषि जलमें आपादमस्तक डूबकर तपस्या करने लगे। मछलियाँ उनके पास आती-जाती, खेलती-कूदती रहती थीं। मछलियोंका समूह देखकर एक मछुएने वहाँपर जाल फेंका। बहुत-सी मछलियाँ जालमें फँसीं; पर उनके साथ-साथ ऋषि भी जालमें फँसकर बाहर आ गये। ऋषिको देखकर मछुआ भयभीत हो गया। उसने उनके चरणोंमें करबद्ध विनती की—'महात्मन्! मैंने अनजानमें ऐसा कर दिया। आप क्षमा करें।'

ऋषिने कहा—'क्षमा तो मैं कर ही दूँगा, पर इन मछलियोंको तुम जलमें छोड़ दो।'

मछुआ बोला—'श्रीमन्! मछली पकड़ना तो मेरी जीविका है। इससे मैं अपने परिवारका भरण-पोषण करता हूँ। यदि मैं इन मछलियोंको पानीमें छोड़ दूँगा तो मैं और मेरा परिवार जीवित कैसे रहेगा?'

ऋषि बोले—'इसकी चिन्ता न करो। इसका भार तुम मुझपर छोड़ दो।'

ऋषिके कथनानुसार मछुएने पकड़ी गयी सब मछलियोंको जलमें छोड़ दिया। तब मछुएको अपने साथ लेकर महात्माजी राजाके दरबारमें गये। राजा उन ऋषिको पहलेसे जानते थे, अतः वहाँ उनका भलीभाँति आदर-सत्कार हुआ। तदुपरान्त ऋषिने राजासे कहा—'महाराज! आज मैं आपसे कुछ माँगनेके लिये आया हूँ।'

राजाने सादर कहा—'ऋषिवर! यदि हमारे साध्यमें होगा तो मैं उसे अवश्य प्रदान करूँगा।'

ऋषिने मछुएके लिये उस राजासे माँगा कि 'इस मछुएको हमारा मूल्य दे दिया जाय।'

राजाने साश्चर्य पूछा—'आपका मूल्य? मैंने आपका मन्तव्य नहीं समझा महात्मन्!'

'इस मछुएके जालमें फँसकर मैं बाहर आया हूँ'—ऋषिने समझाया—'इसलिये इसे हमारा मूल्य मिलना चाहिये।'

'महात्मन्! आप कोई मछली तो नहीं हैं'—राजाने अपना तर्क प्रस्तुत किया—'आप तो एक महान् तपस्वी हैं।'

राजाने ऋषिकी माँगको स्वीकार तो कर लिया, परंतु अब यह समस्या उठ पड़ी कि इसका निर्णय कौन करे कि ऋषिका मूल्य कितना हो? इसका निर्णय करनेके लिये सभी मन्त्रियोंको दरबारमें बुलाया गया। सबने अपने-अपने मतके अनुसार ऋषिका मूल्य निर्धारित किया। कोई कहता था कि ऋषिका मूल्य एक लाख रुपया हो। कोई मूल्य लगाता था दस लाख, यह भी कम समझा गया। अन्तमें ऋषिका मूल्य आँका नहीं जा सका।

तत्पश्चात् राजाने ऋषिसे स्वयं पूछा—'महात्मन्! कृपया आप अपना मूल्य स्वयं बताइये।'

ऋषिने एक पल नेत्र बंद करके कहा—'राजन्! रुपयोंमें मेरा मूल्य देना सम्भव नहीं है। मेरा मूल्य एक 'दुधारू गाय' हो सकती है।'

तब राजाने एक अच्छी नस्लकी दुधारू गाय मछुएको देकर बिदा कर दिया। मछुएने उसी दिनसे मछली पकड़नेका धंधा छोड़ दिया। गाय और बछड़ेको पालने-पोसनेसे ही उसका जीवन-यापन होने लगा। मछली मारनेकी वृत्तिसे अच्छा गाय पालना है। कुछ दिनोंमें उसके पास गायोंका एक समूह हो गया; क्योंकि वह गायको बेचना पाप समझता था।—गोस्वामी शान्तिदेवी

सावधान रहना, यह दुनिया शैतानकी दूकान है। भूलकर भी इस दूकानकी किसी वस्तुपर मन न चलाना, नहीं तो शैतान पीछे पड़कर उस वस्तुके बदलेमें तुम्हारा धर्मरूपी धन छीन लेगा।

Kalyana-Kalpataru

Kalyana-Kalpataru is being again published from May 1989. Its inaugural issue is to be 'God-Realization'. Learned readers and exalted souls are requested to contribute articles for this issue. The list of heads is given below. The portions of articles so contributed if necessary may be deleted or modified. It may not be possible for us to include all the articles received. As far as possible we will endeavour to return the articles not incorporated in the issue.

We shall be very grateful to the devoted persons who respond to our request. The articles should reach us latest by 30th Oct. 1988.

Editor
Kalyana-Kalpataru
P.O. Gita Press, Gorakhpur—273005

1. What is God-Realization ?
2. Ways to God-Realization.
3. Methods of God-Realization as discussed in Shreemad Bhagavadgita Shreemad Bhagwat, Puranas & Upanishads.
4. Karmayoga is an independent way to God-Realization.
5. What is Karmayoga ? How it can be put into practice ?
6. Gyanayoga is also an independent method of God-Realization.
7. What is Gyana-yoga ? Is it difficult to put into practice ?
8. Surrender to God is a sure way to God-Realization.
9. What is Bhaktiyoga ? How it can be developed ?
10. What are the obstacles in God-Realization ?
11. God-Realization is possible during life time.
12. In each walk of life, in every order of life and under all circumstances; a human being has got inherent capacity to realize God.
13. Sex or caste is no bar in God-Realization.
14. Image worship is a mean to God-Realization.
15. God-Realization is possible only by discipline or by God's Grace or by both combined.
16. Is God open to perception ?
17. What is discrimination between God-Perception and God-Realization ?
18. What are the attributes of a God-Realized soul ?
19. The best way to God-Realization.
20. Chanting of God's names is a sure way to God-Realization.
21. Is love the only mean of God-Realization ?
22. What is love of God ?
23. Are love of God and love for universe are co-extensive terms ?
24. Worship of any of these Five Lords namely Vishnu, Ganesha, Shiva, Shakti and Sun is a way to God-Realization.
25. By serving the husbands in a selfless spirit, women folk can easily realize God.
26. By serving the parents, obedient sons can realize God.
27. By carrying-out the behests of realized souls, we can realize God.
28. God-Realization is possible by meditation.
29. By grace of High liberated souls, God-Realization is possible.

30. Even honest trading can be a mean to God-Realization.
31. Experiences of God-Realized souls and their suggestions.
32. Life stories of High Exalted souls.
33. God-Realization is easy.
34. Full faith is a way to God-Realization.
35. God can be realized instantly.
36. A man devoted to his natural duty attains perfection i.e. God-Realization.
37. Control of mind and senses are essential for God-Realization.
38. The only aim of human life is God-Realization.
39. A comparison of Gyanayoga, Bhaktiyoga and Karmayoga.
40. Equanimity is another name of God-Realization.
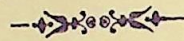
चालू वर्षका विशेषाङ्क—‘शिक्षाङ्क’

(इच्छुक सज्जन मँगानेमें शीघ्रता करें)

‘कल्याण’-प्रेमी समस्त पाठकों और इच्छुक सज्जनोंसे निवेदन है कि ६२वें वर्ष (जनवरी, सन् १९८८)के विशेषाङ्ककी अब बहुत थोड़ी प्रतियाँ ही शेष रह गयी हैं। इसकी माँग और लोकप्रियताका पूर्वानुमान करके यद्यपि इसके प्रथम संस्करणकी १,७०,००० प्रतियाँ छापी गयीं; तथापि सहृदय पाठकोंद्वारा इसे प्रीतिपूर्वक अपनाये जानेके फलस्वरूप इसकी माँगकी निरन्तरताको देखकर इसी वर्ष मात्र दो महीनेकी लघु अवधिमें ही इसका दूसरा संस्करण १५,००० का और भी छापना पड़ा। इस प्रकार बृहत् संख्यामें कुल १,८५,००० प्रतियाँ छापे जानेपर भी इसकी उत्तरोत्तर माँग और अनवरत लोकप्रियतामें अद्यावधि प्रायः कोई कमी नहीं हुई है। प्रतिदिन बढ़ती हुई माँगकी इस निरन्तरताको देखते हुए अब बची हुई सीमित प्रतियोंके भी शीघ्र समाप्त हो जानेकी पूर्ण सम्भावना है। अतः सभी इच्छुक भाई-बहनों और सज्जनोंको इसे मँगानेमें अब शीघ्रता करनी चाहिये।

‘शिक्षा’से ही सुसंस्कार प्राप्त होते हैं। शिक्षा ही वह मूलाधार है, जिसके पल्लवित, पुष्पित होनेपर मानव-जीवनका सर्वाङ्गीण विकास, सर्वविध उन्नयन और उसके चरम और परम लक्ष्य ‘भगवत्प्राप्ति’का सुन्दरतम, सुमधुर अमृत-फल प्रस्फुटित और साकार हो सकता है। इसे दृष्टिगत रखकर ही इस वर्ष इस सर्वमान्य बहुचर्चित विषयपर सशक्त, विचारपूर्ण, तात्त्विक सामग्रीसे युक्त सर्वजनोपयोगी विशेषाङ्क—‘शिक्षाङ्क’ निकाला गया। संतोषका विषय है कि ‘कल्याण’के सम्मान्य ग्राहकों और बहुसंख्यक पाठकोंने हमारे इस लघु प्रयासको, जो भगवत्कृपासे ही इस रूपमें सम्भव हो सका, अपनी सहज स्वीकृति और समर्थन देकर हमारा उत्साह-वर्धन किया। एतदर्थ हम सभी महानुभावोंके हृदयसे आभारी हैं।

यह अङ्क बालकों, अभिभावकों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, विद्वानों, विचारकों तथा देश और समाजके अग्रणी चिन्तकों और राजनेताओंके लिये तो परमोपयोगी और मननीय है ही, गाँवों तथा नगरोंके निवासी सर्वसाधारण सद्गृहस्थों एवं माता-बहनोंके लिये भी पठनीय और प्रेरणादायी है। इस प्रकार यह विश्वविद्यालयों, विद्यालयों, पुस्तकालयों, वाचनालयों, शिक्षण-संस्थाओं एवं अन्यान्य लोकसेवी संस्थाओं और सार्वजनिक प्रतिष्ठानोंके लिये परम उपादेय होनेसे सर्वथा संग्रहणीय है। अतएव ऐसे सर्वजनोपयोगी विशेषाङ्कको, जो अब (किसी भी समय) शीघ्र समाप्त हो सकता है, मँगानेमें किसी तरहका विलम्ब न करके इसका वार्षिक मूल्य ३८.०० (अड़तीस) रुपये मात्र मनीआर्डरद्वारा ‘कल्याण’-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुरके पतेपर यथाशीघ्र भेजकर प्राप्त कर लेना चाहिये। अन्यथा ‘कल्याण’के अन्य पुराने विशेषाङ्कोंकी तरह इसके भी समाप्त हो जानेपर ‘कल्याण’के प्रेमी पाठकोंको निराश होना पड़ सकता है।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’